# प्राचीन हिन्दी-काव्य

# प्राचीन हिन्दी-काव्य

(विवेचनात्मक एवं समीक्षात्मक निबन्ध)

लेखक

डॉ० ओम्प्रकाश

रीडर, हिन्दी-विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय

राधाकृष्ण प्रकाशन

मूल्य १५.००

प्रकाशक
अरविन्द कुमार
राधाकृष्ण प्रकाशन
२, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-६

मुद्रक
प्रिंट्समैन,
डोरीवालान, रोहतक रोड,
नई दिल्ली।

सहपाठी बन्धु
डॉ० सु० शंकर राजू नायडू
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
मद्रास विश्वविद्यालय
को
सस्नेह

# लेखकीय

प्रस्तुत संग्रह मे प्राचीन साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले मेरे प्र
निबन्ध है। प्रत्येक निबन्ध प्राचीन साहित्य के सम्बन्ध में एक-न-एक
समस्या को उठाता है और यथाशक्ति कोई-न-कोई स्थिर समाधान प्रस्तुत
का भी प्रयत्न करता हैं। इस पुस्तक में उनका एकत्र संकलन प्राचीन हि
साहित्य की कतिपय रचनाओं को ध्यान मे रखकर किया गया है। प्रा
कि इस संग्रह के द्वारा किसी दृष्टिकोण अथवा किन्ही मान्यताओं का भी प्र
मिल सकेगा। इस सम्बन्ध मे विद्वान् पाठको के विचारों एवं सुझावो क
सदा सधन्यवाद स्वागत करता हूँ।

—ओम्प्र

# क्रम-संकेत


चीन हिन्दी-काव्य ९
र-गाथा काव्य १६
द्यापति और चण्डीदास ३२
द्यापति की राधा ४२
हल द्वीप ४८
ावन मे रूपक-तत्त्व ५८
ीर का काव्य ६४
ीर और बौद्धमत ७७
की राधा ८६
र-गीत की भूमिका ९८
ी के मगल-काव्य १०५
य पत्रिका ११६
ी का दार्शनिक मत १२८
प्रिया १३९
री का काव्य-कौशल १४९
ी-मनमई मे विदेशी शब्दावली १५६
न्द का काव्य १६६
त साहित्य के अनुसन्धान की समस्याएँ १८०

"प्राचीन साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले आपके लेखों में नवीनता है जिसका मैं स्वागत करता हूँ। नए चिन्तन से ही विचारों में प्रौढ़ता और परिपक्वता भी आती है।"

नन्ददुलारे वाजपेयी

२-८-५१

## प्राचीन हिन्दी-काव्य

चिन्तन-स्वातन्त्र्य के व्याज से वैयक्तिक उच्छृंखलता के पोषक बौद्धाभास मत-मतान्तर राष्ट्रीय संस्कृति को उच्छिन्न एवं सामाजिक जीवन को भ्रष्ट करने में लग गये। ऋजु एवं स्वस्थ परम्पराओं का अकारण विरोध बौद्धिक विकास के नाम से चलने लगा। सनातन जीवन-परिपाटी का परिहास एवं ध्वंस सिद्ध का प्रथम लक्षण समझा जाने लगा। आनन्दमयी वैदिक विचार-धारा का सन्तुलन नष्ट करने के लिये परस्पर-विरोधी निरानन्दी एवं विषयानन्दी दर्शन संयुक्त अभियान में जुट गये। 'सर्वं शून्य शून्यम्' तथा 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' दोनों विरोधी विचार-धाराएँ पारस्परिक सहयोग द्वारा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के सत्य को असिद्ध करना चाहती थीं। प्राकृत प्रयोगों तथा अपभ्रष्ट रूपों द्वारा भारती का अवमूल्यन होने लग गया। सम्भवतः दार्शनिक गहनता से चमत्कृत होकर बौद्धिक पराजय स्वीकार करने वाली जनता दीर्घकाल तक तमसाच्छन्न रहती चलती। परन्तु वाम मार्गों का व्यावहारिक कुफल जन-मानस को सह्य न हो सका। अस्तु, शंकराचार्य के प्राविर्भाव के साथ सच्चित् में गति आ गई—सत् का चैतन्य जग गया और वैदिक मार्ग की सनातन ज्योति पुनः प्रकट हुई। हमारे सांस्कृतिक इतिहास में आचार्य शंकर का एक विशेष महत्व है। उनसे न केवल संस्कृत भाषा एवं वाङ्मय का पुनरुत्थान दृष्टिगत होता है प्रत्युत राष्ट्रीय जीवन में सांस्कृतिक मूल्यों की स्वीकृति भी फिर झलकने लगती है। उनके भाष्य से 'सर्वम् शून्यम् शून्यम्' के स्थान पर 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' की बौद्धिक प्रतिष्ठा हुई तथा 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' एवं 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' के समवेत पाठ ने भौतिक भोगवाद पर कुठाराघात कर दिया। शंकराचार्य का कृतित्व आस्तिकता एवं उदात्त जीवन के समानान्तर उपदेश में है; वे 'ब्रह्म सत्यं' तथा 'जगन्मिथ्या' की अविच्छिन्न प्रतिष्ठा कर देते हैं—दोनों का उपदेश वे एक श्वास में ही दे रहे हैं। 'नाभावो विद्यते सतः' से पूर्व 'नासतो विद्यते भावः' का आत्मबोध स्वस्थ राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के लिए आवश्यक है। जब तक प्रत्येक सामाजिक के मन में यह विश्वास नहीं जम जाता कि उसका धर्म ब्रह्म अथवा

धारणा है सनातन अथवा भौतिक जगत् नहीं, तब तक किसी भी राष्ट्र का
उत्थान नहीं हो सकता, क्योंकि तब तक स्वस्थ चिन्तन एवं स्वस्थ प्राय
सहज संभावना नहीं है। भौतिक मूल्य तो कोई मूल्य ही नहीं (जगन्मिथ
ऐसा सोचकर ही हम आध्यात्मिक मूल्य (ब्रह्म सत्यम्) की ओर सहज
प्रवृत्त होते हैं और हमारे आचार-विचार में सत्य का वास हो सकता है।

शंकराचार्य के श्लोकार्द्ध को चिन्तन की सूक्ष्मता से फँसकर जन
तक व्याप्त होते-होते दो शताब्दियों का समय लग गया। इस बीच विभि
में उसके कतिपय उपयोगी संस्करण भी हुए। कहीं इन्द्रियों की दा
त्याज्य घोषित कर स्वामित्व की प्रेरणा दी गई। कहीं विरक्ति के निर
उपदेश दिया गया। कहीं प्रविद् को शून्य समझने की भूल का निर
प्रविद्-वैशिष्ट्य ब्रह्म की स्वीकृति के रूप में किया गया। प्रसंस्कृत से
की ओर जाने का नैसर्गिक प्रयत्न भी हुआ। अस्तु, विक्रम की दशम श
पहुँचते-पहुँचते समस्त देश में फिर आशा एवं उत्साह का संचार हो उठा,
स्वर्णिम युग में अवगाहन करके भारतीय मन निर्मल, उद्वेगहीन एवं शिव-
युक्त होने लगा, आत्मविश्वास द्वारा आत्मसम्मान के मानकों से तोलकर
लाभालाभ की व्यर्थता सिद्ध होने लगी। राष्ट्रीय संस्कृति की अवि
परम्परा फिर एक बार जन-जन को तमस् से ज्योति की ओर ले जाने
भाषाओं के साहित्य में इस सांस्कृतिक चेतना की प्रदीप्ति सभी पाठ
आकृष्ट कर उनके मानस को उल्लसित कर सकी है। ब्राह्मणों का ध्य
केवल यज्ञ आदि बलवर्द्धिनी क्रियाओं की ओर गया प्रयुत प्राचीन दर्श
साहित्य, राजनीति एवं समाजनीति, शास्त्र एवं पुराण आदि की सहाय
भी वे राष्ट्र के मनोबल को सुरक्षित करने लगे। दीर्घ निद्रा के उपरान्त
हुआ समाज उत्साह एवं आदर्श से झूमने लग गया। यदि पुनरुत्थान का
कार्य अबाध गति से चलता रहता तो गत सहस्राब्दी का इतिहास एक दूसर
लेखनी से लिखा मिलता। परन्तु देश के राजनीतिक जीवन में एक कलं
गया जिसने राहु के समान उदयोन्मुख भास्कर की ज्योति को किंचित् का
लिये अवरुद्ध एवं दीर्घ काल तक के लिए मन्द कर दिया। भारतवर्ष के इति
में विदेशियों के उस निरन्तर बहुमुखी ध्वंसात्मक आक्रमण के समान कोई
दुर्घटना नहीं हुई। उच्छृंखल सामाजिक अव्यवस्था ने उस आक्रमण को स
बनाया और उस बर्बर आक्रमण ने ध्वंसात्मिका उच्छृंखलता का पुनः सि
कर उसको स्थायित्व प्रदान करने का प्रयत्न किया।

यदि हमारे देश पर विदेशियों का निरन्तर बहुमुखी ध्वंसात्मक आक्र
न हुआ होता तो आज हमारे देश एवं समाज की जो दशा होती उसका अनुम
उस आक्रमण से पूर्व के शतक-द्वय की चेतना एवं पुनरुत्थान की उपेक्षा क
नहीं लगाया जा सकता। शताब्दियों से शून्य में भटकने वाली सामाजिक चेत
एक शताब्दी के अल्पकाल में ही आत्मलाभ द्वारा उल्लसित हो उठी और दो

वर्ष से कुछ कम समय मे ही निराशा को नष्टकर आशावती हो गई तो आगामी सहस्राब्दी में वह न जाने कितना मनोबल सचित कर सकती थी। औषधि के प्रथम सेवन से ही रोगाक्रान्त समाज ने मुस्कराकर आँखें खोल दी तो यह निश्चय है कि अभीष्ट मात्रा में किंचित् काल तक उसका सेवन करने से समाज स्वस्थ ही नही परिपुष्ट भी हो सकता था। सहस्र वर्ष की उस दीर्घ अवधि में भारतीय समाज ज्ञान-विज्ञान, आविष्कार-अनुसधान, समृद्धि-सैन्यशक्ति आदि में दूसरों से अग्रणी क्यों न बन जाता—इसका कोई कारण मेरी समझ में तो बैठता नही, विशेषत: उस दशा में जबकि समाज के स्वास्थ्य-लाभ के स्पष्ट चिह्न हमको दशम शती मे दिखाई पड़ने लगते हैं। आज जो राष्ट्र उन्नत एवं समृद्ध है उनमें से कोई भी नवम-दशम शताब्दी मे हम से अधिक स्वस्थ एवं सम्पन्न नहीं था। इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिए कि आज के अनुकरणीय राष्ट्र विक्रम की चतुर्दश-पंचदश शताब्दी के उपरान्त ही तो सरकना सीखे हैं। अस्तु, इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि हमारे देश पर वह बहुसूत्री ध्वसात्मक आक्रमण न हुआ होता तो हमारे राष्ट्र की वह दशा न होती जो आक्रमणग्रस्त होने के कारण हुई, हम न जाने कितने स्वस्थ, सम्पन्न एव सशक्त बन गये होते और यदि ससार के नेता न होते तो संसार के पिछलगा भी न बन जाते। राष्ट्र का क्षत-विक्षत कलेवर औषधि-लेप से भरने तो लगा था परन्तु पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ न कर पाया था कि गीदड़ों की भीड़ ने उसे झकझोर डाला और नुकीले दाँतो से कसक तो उत्पन्न कर ही दी विषैला झाग भी उसके मर्मों मे भर दिया।

आक्रमणों के धक्कों से पहले तो हम विचलित न हुए और आत्मविश्वास-पूर्वक मर्यादानुकूल आचरण करते रहे। परन्तु आक्रमणों की निरन्तरता से विजय को खोकर समाज आत्मविश्वास गँवा बैठा, उदात्त भावों की बलि हुई, एव स्वाभिमान मुरझाने लगा। ह्रास की यह प्रवृत्ति वीर-काव्य के उपरान्त शृंगार काव्य तक क्रमश: वृद्धिमती होती गई। इतिहास के ग्राफ मे समाज की रेखा एकादश शती से ऊनविंशति शती तक नीचे की ओर ही बढ़ती चली आती है।

वीर-गाथा-काव्य का जीवन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक-परम्परा की नोपेक्षणीय कड़ी है। उसमे आस्तिकता के साथ आत्मविश्वास, त्याग के साथ भोग, भाग्य के साथ पौरुष, समर्पण के साथ स्वाभिमान, मोक्ष के साथ जीवनानुराग, परलोक के साथ इहलोक आदि विरोधी प्रतीत होने वाले प्रकल्प सर्वत्र अनुस्यूत हैं। वह जीवन व्यापक एव समृद्ध था। उसमें सूक्ष्म ब्रह्म-विचार से लेकर स्थूल अरि-मर्दन तक विस्तार था। उस युग में जीवन आत्म-सम्मान का ही नाम था, इस-लिए सम्मान-हानि की अपेक्षा प्राणों की हानि स्वीकार्य समझी जाती थी। शरीर रूपी मन्दिर में आत्मा का निवास है, इसकी ज्योति अक्षुण्ण है, प्राणो के रहते हुए उस पर मालिन्य का प्रभाव नही आना चाहिए। वीर-गाथा-काल का भारतवासी जीवन और मरण दोनो में उत्नमित था, क्योकि उसको आत्मलाभ प्राप्त हो गया था। इस पृथ्वी पर रहकर इसी पृथ्वी के उपकरणो से इसी पृथ्वी

को स्वर्ग बनाने की आकांक्षा यदि कहीं प्राप्त होती है तो रासो के वीर-गाथा-काव्य में ही। पत्नी के प्रश्न पर चन्दबरदाई ने जब कहा कि 'मन बच्च क्रम्म सिवि जानि लिय, न है मुक्ति हरि-भगति बिनु', तो कवि-पत्नी कहने लगी कि तब तुम पृथ्वीराज के यश का क्यों वर्णन करते हो, तुमको भगवान् की लीला का ही वर्णन करना चाहिए। उस समय कवि चन्द ने कहा कि भगवान् का रूप मनुष्य में प्रतिबिम्बित है, महापुरुष का वर्णन करके कवि प्रकारान्तर रूप से भगवान् की ही स्तुति करता है (भगवद्भक्ति का सर्वश्रेष्ठ रूप है सत्पुरुष के सद्गुणों का सम्मान एवं कीर्तन); मानव को ईश्वरत्व एवं पृथ्वी को स्वर्गत्व प्रदान करना ही रासो-काव्य का मूल लक्ष्य है :

> यहो को उपम्मा करं क्षिति भार्त्तो।
>
> यहो सख्य संसार मर्म्मं प्रकार्त्तो॥ (पृ० रासो, ७२५)

सांस्कृतिक चेतना के संदर्भ में यदि वीर-गाथा-काव्य का अध्ययन न हुआ तो यूरोप के मध्ययुगीन काव्य के समान इसको सामन्ती संस्कृति का प्रशंसात्मक चारण-काव्य मात्र समझने का भ्रम हो सकता है और उस काव्य में जिन उदात्त भावों की प्रतिष्ठा है उनको आश्रयदाता की चाटुकारिता-मात्र माना जा सकता है। कथा-नायकों की तुलना इन्द्र, राम, कृष्ण, युधिष्ठिर आदि महापुरुषों से करके कवि ने भारतीय जीवन के सांस्कृतिक तत्त्वों—इन महापुरुषों के अनुकरणीय गुणों—के प्रति अपार विश्वास दिखाया है। जीवन को दीर्घ, अदीन, समृद्ध, जयी एवं कर्मशील चित्रित करने के कारण यह काव्य अनुरागी है पलायनवादी नहीं, उल्लसित है खिन्न नहीं, व्यवस्थित है भ्रष्ट नहीं, परम्परा-पुष्ट है उच्छिन्न नहीं। इसका अध्ययन उल्लसित चेतना के प्रतिबिम्ब के रूप में ही होना चाहिए।

इसके अनन्तर साहित्य में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब मिलने लगता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि विदेशियों के आक्रमण सफल हो गए परन्तु यह भी सन्तोषप्रद सत्य है कि सांस्कृतिक चेतना की लहर के कारण भारतीय जनता निरन्तर संघर्ष ही करती रही। फिर भी विदेशियों की बर्बरता के कारण सांस्कृतिक ज्योति तमसाच्छन्न अथवा मन्द तो पड़ गई थी। भक्ति-काव्य एवं शृंगार-काव्य उसी मन्दायमान प्रवृत्ति की उपज हैं। भक्ति-काव्य-काल में भारतीय पलायनवादी बन गये, वे इहलोक की अपेक्षा परलोक को, जीवन की अपेक्षा मोक्ष को, भोग की अपेक्षा त्याग को, आत्मविश्वास की अपेक्षा आस्तिकता को अधिक महत्त्व देने लगे। शासन एवं सेना, व्यापार एवं व्यवसाय विदेशी शासन में भारतीयों के लिए अवरुद्ध थे। भारतीय न कमा सकता था न बैठकर खा सकता था; न्याय न कर सकता था न माँग सकता था; उदात्त भावों को न आशा रखता था न प्रदर्शन कर सकता था। जीवन में घुटन, परवशता, दुःख एवं उदासीनता ने घर कर लिया। 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी, तथा "सन्तन कों कहा सीकरी सों काम"—उस युग की सामान्य पलायनपरता के विचार हैं।

कंस की क्रूरता से सन्त्रस्त नन्द और यशोदा मथुरा से हटकर गोकुल ग्राम में बस गये और क्षात्र-वृत्ति त्यागकर कृषि एवं गोचारण द्वारा भयभीत जीवन को बिताने लगे; उनके अवसन्न जीवन की आशा का एक मात्र आधार उनकी प्राणोपम सन्तान थी, जिसकी क्रीडाओं को देखकर वे कभी-कभी फीके होंठों से मुस्करा देते थे। निर्गुणियों के मन पर पराधीनता का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने परम्परा का विश्वास एकदम खो दिया; वेद-शास्त्र, ऋषि-मुनि, ब्राह्मण-क्षत्री सब असत्य हैं; धन-धान्य ही नहीं ज्ञान-विज्ञान भी निस्सार है। ज्ञान-प्रधान चिन्ता-धारा शास्त्र-प्रमाण में विश्वास नहीं रखती और स्वयं शंकर ने जगत् को मिथ्या बता दिया था; परन्तु निर्गुणियों का खण्डन उस परम्परा-मात्र का निर्वाह नहीं है। कबीर जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति जब ज्ञान-विज्ञान तक को माया सिद्ध करते हैं (जो शंकर के मत के अनुकूल नहीं है) तो उनको सहजिया-परम्परा में बैठाल कर हम उनकी व्याख्या करने लगते हैं। वास्तव में निर्गुणियों का खण्डन उनके समाज की आत्म-विश्वास-हीनता का ही सूचक है जो सामाजिक पतन का एक चिह्न है। सांस्कृतिक परम्परा में विश्वास करके ही हम आत्मविश्वासी बन सकते हैं और राष्ट्र को सुख-समृद्धि पूर्ण बना सकते हैं—इस तथ्य पर पहुँचकर गुरु गोविन्दसिंह ने क्षात्रधर्म के जागरण के लिए, गुरु नानक के विचारों से असहमति न प्रकट करते हुए भी, 'रामावतार', 'कृष्णावतार', एवं 'चण्डीचरित' जैसे पुनरुत्थानधर्मी सांस्कृतिक चेतना के उद्‌बोधक काव्य स्वयं लिखे और सत्यधर्म के लिए अपनी सन्तान के मिथ्या-शरीरों का बलिदान कर दिया; 'चण्डीचरित' में वे उसी वीर-गाथा-कालीन उदात्त चेतना को अपने जीवन का परम श्रेय घोषित करते हैं:

> नित देहि सिवा वर मोहि इहै सुभ करमन तें कबहूँ न टरौं।
> न डरौं, अरि सों जब जाइ लरौं, निसचै करि आपनी जीत करौं।
> सिखहौं सीख आपने ही मन को इह लालच हौं गुन तो उचरौं।
> जब आयु की औधि निदान बनै अंत ही रन मैं तब जूझि मरौं॥

इस सवैये में न केवल शिव-सकल्प एवं अभय की वैदिक कामना ही है प्रत्युत शत्रुञ्जयता एवं आत्मबोध (सिखहौं सीख आपने ही मन को) की सांस्कृतिक चेतना का पुनराग्रह भी उपलब्ध होता है।

वस्तुतः भक्ति-काल में रहकर साहित्य द्वारा समाज के सांस्कृतिक संरक्षण का कार्य गोस्वामी तुलसीदास ने प्रारम्भ किया था आगे चलकर गुरु गोविन्दसिंह ने उसको पुष्ट एवं व्यावहारिक बनाया। तुलसी ने देखा कि समाज को पथ-भ्रष्ट करने के लिये कुछ लोग काव्य द्वारा प्राकृत-जन-गुण गान कर रहे हैं और मूढ़ जनता उसकी ओर आकृष्ट हो जाती है यदि उसकी रक्षा न की गई तो राष्ट्र का समूल विनाश हो जाएगा। अस्तु, वे उसी भाषा में उसी शैली पर 'प्राकृत-जन इव' 'हरि-चरित' का संकीर्तन करने लगे और क्योंकि उनकी वाणी में 'रघुपति नाम उदारा' व्याप्त था इसलिए उनके विश्वास के अनुरूप जनता ने

शृंगार-काव्य के साध्य से दूर हो जाता है। क्योंकि वीर-काव्य की तुलना में यदि शृंगार-काव्य का अध्ययन किया जाय तो यह निष्कर्ष सहज ही गम्य है कि हिन्दी का शृंगार-काव्य विदेशियों से ध्वस्त समाज की विकल विमूढ़, वासना-पंकिल, आकांक्षाहीन, अकर्मण्य अभिव्यक्ति है, उसमें गौरव के स्थान पर तड़पन है, आदर्श के स्थान पर मौग्ध्य है, जीवनानुराग के स्थान पर वासना का प्रवाह है, महत्वाकांक्षा के स्थान पर विरहानुभूति है, जीवन का ऐसा निष्ठुर परिहास एवं मरण का इतना निर्मूल्य वरण भारतीय काव्य में अन्यत्र नहीं मिलता। विदेशी विष-वेष से आत्मविस्मृत आलोचक यदि शृंगारकालीन कविता की छन-छन झम-झम अथवा कृत्रिम विरहानुभूति पर मुग्ध होकर नाचने लगे तो उसे राष्ट्र का दुर्भाग्य ही माना जायगा। कविराज भूषण एवं गुरु गोविन्दसिंह की चेतना ने उस वातावरण से विद्रोह किया और स्वयं आदर्श-काव्य का सृजन कर दूसरों के सम्मुख आदर्श प्रस्तुत किया था। गुरु गोविन्दसिंह महाराणा प्रताप के समान राजनीति-मात्र में ही व्यस्त न रह सके प्रत्युत अपने स्वल्प जीवन-काल में ही उन्होंने ५२ कवियों को आश्रय देकर अभ्युत्थानात्मक साहित्य को प्रोत्साहित किया एवं स्वयं वीर रस की राष्ट्रीय रचनाओं द्वारा ब्रज-भाषा-काव्य को एक नवीन दिशा का निर्देश किया। शोधान्वेषी ऐसे अपार साहित्य की प्राप्ति पर शृंगार-काल का इतिहास एक भिन्न प्रकार से लिखा जायगा।

हिन्दी के शृंगार-कालीन काव्य तक का अध्ययन करते हुए मैं उक्त निष्कर्षों पर पहुँच सका हूँ। वीर-गाथा-काव्य पर जितना अधिक विचार किया जाता है उतना ही उसका सांस्कृतिक महत्व अधिक दिखलाई पड़ता है। वीर-गाथा-काव्य से हमारा काव्य धीरे-धीरे पतन की ओर जाने लगता है, क्योंकि हमारा इतिहास विदेशी ध्वंस का इतिहास है, फिर भी भारतीय जनता पिछले एक सहस्र वर्ष में संघर्ष करती रही है—उसने विजय की आशा कभी नहीं त्यागी क्योंकि उसके अतीत में असंख्य अमर प्रेरणाएँ हैं। फलतः भक्ति-काल से ही ऐसे कवियों के दर्शन होने लगते हैं जिनका स्वाभिमान सजग रहा है और जिनकी वाणी समय-समय पर राष्ट्र को चेताती रही है। अपने एक लेख 'हिन्दी-काव्य के एक सहस्र वर्ष' में कुछ वर्ष पूर्व मैंने इस विचार को प्रस्तुत किया था। जो कुछ हिन्दी काव्य अथवा ब्रज-भाषा-काव्य के विषय में कहा गया है वह भारत के अन्य समकालीन भाषा-काव्यों पर भी लागू होता है, क्योंकि सबको समान राजनीतिक परिस्थितियों में रहना पड़ा है।

हमारा मध्ययुगीन प्राचीन साहित्य संघर्ष एवं आशावाद का चित्र है। मिथ्या के प्रति सानुराग दिखलाई पड़ने पर भी इसकी आत्मा इतनी सत्य है कि एक सहस्र वर्ष का ध्वंस भी इसको कम्पित नहीं कर सका। हमारा स्वतन्त्रता-संग्राम 'पृथ्वीराज रासो' से 'गोदान' तक एक परम्परा में प्रतिबिम्बित हुआ है। राजनीतिक इतिहास के पुनर्मूल्यांकन पर प्राचीन हिन्दी-साहित्य का पुनर्मूल्यांकन अनिवार्य बन जायगा।

## २ | वीर-गाथा काव्य

### पृष्ठभूमि

ब्राह्मण धर्म की विकारग्रस्त वर्णाश्रम प्रथा से बिलबिलाकर जब पद-दलित जनता ने महात्मा बुद्ध के नेतृत्व में विद्रोह का स्वर उठाया तो देश में आमूल परिवर्तन प्रारम्भ हो गया, पुराने विचार, पुरानी भाषा, पुराना साहित्य, पुराने प्रमाण (धार्मिक ग्रन्थ आदि) सभी को त्याज्य समझा गया, और बुद्ध के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण इस विद्रोह ने थोड़े ही समय में अद्भुत परिवर्तन दिखा दिया; ऐसा जान पड़ने लगा मानो इससे पूर्व या तो कुछ था ही नहीं और यदि था भी तो अधिकतर सारहीन ही था। परन्तु वृक्ष के साथ उसकी छाया भी विलीन हो गई और उसकी पत्तियाँ खड़खड़ का सूखा शब्द करती हुई अपने निर्जीव अस्तित्व का ही प्रतीक बन बैठीं। एक ओर बौद्धों में विकार पर विकार आने लग गये, दूसरी ओर ब्राह्मण धर्म ने भी सचेत होकर करवट बदला। अतः शंकराचार्य की एक ललकार ने अवैदिक मतों के छक्के छुड़ा दिये। बहुत दिनों के उपरान्त वर्णाश्रम धर्म फिर सिंहासनासीन हुआ। पतित जनता में स्वतन्त्र चिन्तन का चिरलोप हो चुका था अतः समाज के अधिकारियों ने अवैदिक मतावलम्बियों के अनाचार को लक्ष्य बनाकर जनता को उनसे विमुख कर दिया और ब्राह्मण धर्म की एक बार फिर प्रतिष्ठा की।

विद्रोह तो शान्त हो गया परन्तु उसके कुछ चिह्न न मिट सके, जिनमें से मुख्य भाषाविषयक था, ब्राह्मण धर्म-रक्षक भी यह समझ गये कि अब देव-वाणी मानव-जगत् के लिए व्यवहार्य नहीं रही। अवैदिक अनात्मवाद चिन्तन के क्षेत्र में मायावाद बनकर आया, और सामाजिक जीवन में वह भाग्यवाद[1],

१. श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'सिद्ध-सामंत-युग' के 'निराशावाद' (भाग्यवाद) का कारण सामन्तों की युद्ध-क्षेत्र में असफलता को माना है, परन्तु वीरकाव्य का भाग्यवाद एक उदात्त भावना की उपज है जिसमें अवसाद की अपेक्षा

आत्म-त्याग तथा स्वामि-सेवा में बदल गया। नारी भोग तथा अविश्वास की भी पात्र[1] समझी जाने लगी। विद्रोह की प्रतिक्रिया भी जमकर हुई और वेदशास्त्र एवं वेदोक्त गुणों के प्रति भरसक श्रद्धा दिखलाई गई; जनता की भाषा को साहित्य में स्थान देकर उसको संस्कृत भाषा से सजाना प्रारम्भ हो गया। विक्रम को एक सहस्र[2] वर्ष बीत रहे थे कि भाषा मे एक नया साहित्य पनप उठा, जिसका उत्तर भारत के राजपूत राजाओं से निकट सम्बन्ध है, और जिसमे ब्राह्मण[3] धर्म की फिर से स्थापना है।

हिन्दी भाषा का जन्म तो बहुत पहले ही माना जा सकता है परन्तु हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ इस पुनरुत्थान काल से ही मानना पडेगा[4], उस दिन से आज तक साहित्य में वही अविच्छिन्न विचारधारा दिखलाई पड़ती है, समय-समय पर अन्य प्रकार के विचार भी मिलते हैं, जैसा कि स्वाभाविक है, परन्तु उनका परिपाक भी ब्राह्मण धर्म की पुष्टि में ही होता है। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध धर्म के आन्दोलन ने ब्राह्मण धर्म की अनेक कुरीतियों को दूर करके उसे हिन्दी-साहित्य को स्थायी स्रोत के रूप मे दिया, परन्तु कला के लिए हमारा साहित्य बौद्धों की अपेक्षा जैनों का अधिक ऋणी है। हिन्दी साहित्य को जैन-काव्य की, अपभ्रंश-साहित्य में सुरक्षित, निधि परम्परा से मिली; छंद, अलंकार तथा वर्णन सबमे उसका प्रभाव शताब्दियों तक मिलता है।[5] जैनों तथा बौद्धों का

---

उल्लास अधिक है; आगे चलकर भक्ति काव्य में प्रवृत्ति पराजय का प्रभाव माना जा सकता है।

(देखिए 'हिन्दी काव्य-धारा', 'अवतरणिका')

१. दिअर इज एम्पिल एवीडेन्स टु शो दैट वीमन वर एसाइन्ड एन एनफीरियर पोजीशन इन दी सोशल स्केल। (हिस्ट्री ऑफ इण्डिया; पृ० २२५)
२. सन् ई० की १०वीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था···। (६०) (मध्यकालीन धर्मसाधना)
३. इण्डिया इन दि इलेविन्थ सेन्चुरी एज अलबेरूनी सा इट वाज़ क्वाइट डिफ़रेंट। बुद्धिज्म, और ए मिक्सचर ऑफ बुद्धिज्म एण्ड शाक्तिज्म, और तान्त्रिज्म वाज कनफाइन्ड टु वन कॉरनर ऑफ दि कन्ट्री, नेमली बेंगाल; जैनिज्म मेन्टेन्ड इट्स एग्जिस्टेन्स इन दि एक्स्ट्रीम वैस्ट, गुजरात एण्ड राजपूताना; बट दि डोमिनेटिड फ़ोर्स ऑफ इण्डिया वाज़ हिन्दुइज्म।
(इन्फ्लुएन्स ऑफ़ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृ० १३१)
४. हरनलि साहेबेर मते ८०० खृ० हइते १२०० खृ० अब्देर मध्ये प्राकृतेर युग लुप्त ओ गौडीय भाषासमूहेर युग उद्भूत हइयाछिल। बौद्ध-शक्तिर पराभवे हिन्दुधर्म्मेर पुनरुत्थाने, हिन्दु-जातिर नव चेष्टार स्फुरणे ओ संस्कृतेर नव-विकाशे, सेइ परिवर्तन एत द्रुत हइल···। (१५) (बंगभाषा ओ साहित्य)
५. 'हिन्दी काव्यधारा', 'अवतरणिका', पृ० १२-१३

दोहा छन्द तो हिन्दी का अमर छन्द बन गया है, अपभ्रंश की वर्णन-शैली की झलकें तक तो मिल ही जाती है। वीरकाव्य का सौन्दर्यतत्त्व मुख्यतः इसी अपभ्रंश लोक-परंपरा का विकसित रूप है। वीरकाव्य की जो परंपरा मिली थी उसका जनता के जीवन से निकट सम्बन्ध था, इसीलिए उसमें स्वाभाविकता का ही प्रधान आकर्षण है।

## राजनीतिक परिस्थिति

वैदिक संस्कृति अहिंसा को परम धर्म न मानकर क्षात्र धर्म का एक अंग-विशेष मानती है, इसलिए इस पुनरुत्थान का नेतृत्व 'एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध'[1] भिक्षुओं को न मिलकर रक्तपोषी क्षत्रियों को मिला, जिनको इतिहास में 'राजपूत' कहा जाता है। राजपूत राजाओं में एकछत्र शासन की प्रथा न थी, एक नरेश दूसरे राजा पर आक्रमण अवश्य करता था परन्तु न तो उसके राज्य को अपने राज्य में मिलाता था और न विजित प्रजा पर लूट-मार आदि अत्याचार ही करता था; चक्रवर्ती भूमिपाल केवल यश के लिए ही विजय[2] करते थे जिनमें न तो बौद्धों की कायरता को स्थान है और न यवनों की अमानुषिक बर्बरता का आदेश।

परमेश्वर संसार की सबसे बड़ी शक्ति है और इस संसार का परमेश्वर (या परमेश्वर का प्रतिनिधि) राजा है[3], ब्राह्मण धर्म के इस विचार की इस युग में बड़ी धूम रही; राजनीति में इसको 'दैवी अधिकार' कहते हैं। "राजाओं का एक सत्तात्मक शासन था, प्रजा का उसमें कोई हाथ न था······स्थायी सेना रखने की प्रथा पड़ती जाती थी···"[4] परन्तु प्रजा का प्रत्येक व्यक्ति राजा के लिए प्राण-त्याग करना अपना परम कर्तव्य समझता था। राजा के सामन्त तथा दरबारी सभी, कम से कम कर्म से, ऐसे होते थे जिनका यह विश्वास था कि एक न एक दिन तो मरना ही है फिर क्यों न स्वामी की सेवा में तन अर्पित करके इस लोक में यश तथा परलोक में स्वर्ग-सुख प्राप्त किया जाय।[5] जिस

---

१. 'चन्द्रगुप्त मौर्य'।

२ यशसे विजिगीषूणाम्—रघुवंशम्।

३. जो गुरु ब्रह्म वेदन कहौ, नृप परमेसर आहि।
(पृथ्वीराज रासो, पृ० २०१४)

४. 'भारतीय इतिहास में राजपूतों के इतिहास का महत्त्व।'
(द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ४८-६)

५ [illegible] रहै धाम धन मंत।
[illegible] जिए लोकनिसी, तुम रजपुत न होत॥ (परमाल रासो, २४०)
[illegible] नेह भरे, जिन तुम आदर देह।
तू भर सब [illegible], बसे अमरपुर देह॥ (पृथ्वीराज रासो, ११६८)

प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भगवदिच्छा समझकर किया गया निष्काम कर्म भगवान् को समर्पित हो जाता है कर्ता उसके लिए उत्तरदायी नहीं समझा जाता, उसी प्रकार ऐहिक जीवन में अपना व्यक्तित्व राजा या स्वामी को अर्पित कर देना इस युग का सबसे बड़ा प्रजा-धर्म था।[1]

शासकों के स्वभाव में स्वाभिमान की मात्रा विशेषत: देखने योग्य है परन्तु वह स्वाभिमान कोरा अहंकार मात्र ही न था उसमें अपने पद तथा अपनी मर्यादा का सदा ध्यान रहता है; एक सामन्त जो कल तक एक सामान्य सैनिक था आज शासक बन गया तो उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि अपने पद की रक्षा अपने प्राणों से खेलकर भी करे, यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह नीच है, कुल-कलंक है, उस पद के योग्य नहीं है। फलत: 'छोटी-छोटी' बातों के लिए ही बहुत बड़े-बड़े युद्ध ठन जाते थे, अधिकतर युद्धों का कारण या तो अपनी मर्यादा-रक्षा है या प्रजा के किसी सामान्य कष्ट का बदला; शासक की दृष्टि से दोनों में तनिक भी अन्तर नहीं है। प्रजा के लिए इतना त्याग करने के कारण ही उस युग का राजा 'शासक' न कहलाकर 'प्रजापालक' कहलाता है, एक व्यापक अर्थ में उसको प्रजा का पिता ही समझना चाहिए।[2]

राजपूतों के स्वभाव में स्वाभिमान, आत्म-त्याग तथा प्रजा-पालन के अतिरिक्त दो वृत्तियाँ और भी थीं; एक को भोगप्रियता तथा दूसरी को युद्ध-प्रियता कह सकते हैं। अवैदिक मतों ने संसार से पलायन का जो आदर्श रखा वह ब्राह्मण धर्म को ग्राह्य न था इसलिए इस युग में भोग्य वस्तुओं का निर्लिप्त भोग नेताओं का ध्येय बन गया। राजाओं के अन्तःपुर में न केवल एक से एक बढ़कर रूपवती कामिनी ही दिखलाई पड़ती थी, प्रत्युत विलास के सभी साधन—कला के सभी उपकरण—अमूल्य रत्न, प्रतिभाशाली व्यक्ति, अलौकिक अस्त्र-शस्त्र, देश-विदेश के अश्व आदि भी भरे रहते थे; और इसी सामग्री से उनकी महत्ता की माप होती थी; उत्सवों, त्यौहारों आदि पर इसका प्रदर्शन आवश्यक था; इसकी प्राप्ति तथा रक्षा के लिए प्राण तक त्याग देना अपव्यय न समझा जाता था। ध्यान रखना होगा कि राजपूत राजा विलासान्ध न थे, अपने पराक्रम से अर्जित वस्तु का भोग वे अपना कर्तव्य समझते थे, परन्तु अनुचित-उचित का उनको सदा ध्यान रहता था। राजपूतों ने पर-नारी पर कभी दृष्टि नहीं डाली; हाँ, किसी भी राजा की अविवाहिता कन्या को पराक्रम से जीतकर सहधर्मिणी बनाना उनका प्रिय विषय था। उनका विश्वास था कि पर-नारी की रक्षा से

---

१. स्वामित्त सेव जिम तन तरन, दोष न लग्गे और जस।

(पृ० रा० १२१८)

२. जैसा कि कालिदास ने दिलीप के विषय में कहा है—

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ (रघुवंशम् १।२४)

जय तथा पर-नारी पर कुदृष्टि रखने से पराजय होती है।[1]

युद्धप्रियता इन राजाओं का दूसरा गुण है, जो जितना अधिक विलासी उतना ही अपनी आन पर मर मिटनेवाला।[2] प्रेम-निमन्त्रण पाकर जिस सुन्दरी को प्राप्त करने के लिए अपने प्राणों तक की बाजी लगा दी और अपने प्रिय सामन्तों को खो दिया उसकी पालकी राजप्रासाद तक पहुँच भी न पाई थी कि किसी शत्रु के अत्याचार का समाचार मिला, तत्काल ही आँखें लाल हो गईं, भुज-दंड फड़कने लगे, घोड़े में एड़ लगाई और जुझाऊ बाजे बज उठे। वीरता का इतना सजीव रूप अन्यत्र कदाचित् ही मिले। शृंगार और वीर में कोई विरोध नहीं है, दोनों की सहप्रवृत्ति[3] जीवन की सूचक है, इन्द्रिय-भोगलिप्सा शृंगार नहीं है और बर्बरता को वीरता नहीं कह सकते, जिसमें जीवन होगा वह संसार में अज्ञानियों के समान लिप्त भी रहता है और ज्ञानियों के समान उसका तृणवत् त्याग भी कर सकता है। शृंगार तथा वीर की यह सहप्रवृत्ति अवैदिक मतों में नहीं थी।

## सामाजिक जीवन

इस युग में ईश्वर तथा भाग्य में अत्यधिक विश्वास किया जाता था, भाग्य बड़ा प्रबल है जो कुछ विधि ने लिख दिया है वह मेटा नहीं जा सकता[4], मनुष्य इसीलिए यह नहीं कह सकता कि कब क्या हो जावेगा[5], बड़े-बड़े बलवान् व्यक्ति हो गये हैं परंतु विधि के सामने सबको झुकना पड़ा है। यही भाग्य-

---

१. परयोषित परसै नहीं, ते जीते जग बीच।
पर तिय तक्कत रैनदिन, ते हारे जग नीच॥ (पृ० रासो)

२. राज्य जाय फिर होत है, सिरिय जाय फिरि आय।
वचन जाय नहिं बाहुरै, भूपति नर्क पराय॥
(परमाल रासो, ३०८)

३. (क) बीर सिगार सुमंत, कंत जनु रत्त बाम। (पृ० रा०)
(ख) श्रवन सुनैं बर बीर रस, सिंधव राग अपार।
हरषि उठे दोउ तिहि समै, मिलन बीर शृंगार॥
(हम्मीर रासो, १४८)

४. विधिना विचित्र निरम्यो पटल, निमिष न इन लिक्खव टरय।
(पृ० रा० २३७२)

जु कछु लिख्यौ लिलाट सुक्ख अरु दुःख समंतह।
धन, विद्या, सुन्दरी, भंग, आधार, अनंतह॥
कलप कोटि टरि जाहि, मिटै न, न घटै प्रमानह।
जतन जोर जो करै, रंचन न मिटै विनानह॥ (पृ० रासो)

५. जाने न लोय इह लोक में, कौन भेद कत सुक्किर्य। (पृ० रासो, २४२५)

बाद भागे चलकर जायसी तथा तुलसी में पग-पग पर मिलता है। परन्तु वीर-काव्य का भाग्यवाद व्यक्ति को अकर्मण्य नहीं बनाता, प्रत्युत फलाफल से निरपेक्ष होकर उत्साहपूर्वक[1] कर्तव्य की ओर प्रेरित करता है। इसी भाग्यवाद का फल था कि प्रत्येक राजपूत बिना आगा-पीछा सोचे ही रण-क्षेत्र में कूद पड़ता था और रक्त की नदी बहने लगती थी। प्राण-त्याग तो उस समय एक सामान्य विनोद मात्र था, जब दो व्यक्ति लड़ेंगे तो यह निश्चय है कि एक ही जीवित रहेगा[2], कोई भी जीवित रहे इसका कोई भी अन्तर नहीं। जगनिक ने क्षत्रियों की आयु १८ वर्ष ही मानी है[3], इसके उपरान्त वे वयस्क हो जाते हैं और किसी भी भिड़त में उनका शरीर खेत रह सकता है। बौद्ध लोग जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अधिक सत्य मानते थे, अपने स्वभाववश राजपूतों ने यही सत्य सिद्ध कर दिखाया। कायरता एक कुलकलंक था, जिसमें सबसे अधिक-लज्जा जननी को आती थी[4], क्यों उसने ऐसे पुत्र को जन्म दिया जो कायर बन-कर कृपण के समान अपने जीवन की रक्षा[5] करना चाहता है? वीरों का विश्वास था कि युद्धस्थल में अपने कर्तव्य का पालन करते हुए प्राण देने से जीव की मुक्ति हो जाती है,[6] इसलिए जब तक इस शरीर रूपी मन्दिर में आत्मा का निवास है तब तक इसको अपवित्र न बनने देना चाहिए—इसमें तेज[7] हो, साहस हो, अत्याचार-दमन[8] की शक्ति हो। प्राणों के निकल जाने पर फिर शरीर से कोई मोह नहीं रहता, इसलिए अपने निकटतम सम्बन्धी को वीर-गति प्राप्त करते देखकर राजपूत के मन में क्षोभ नहीं होता प्रत्युत उत्साह की मात्रा बढ़ जाती है।

---

१. जब लगि पंजर सांस, प्रास तब लगि ना छुट्टौं। (पृ० रा० २०४८)
२. यह प्रगट बत्त ससार महि, भिरैं दोय, एकै रहैं। (हम्मीर रासो, ११४)
३. बरिस अठारह छत्री जीवैं, आगे जीवन को धिक्कार। (आल्हखंड)
४. (क) पुनि कहौ कन्ह नृप जैत सौं, स्वामि रक्खि जितु तनु तजैं।
   तिन जननि दोस बुधजन कहैं, मुंछ धरत मुक्ख न लजैं॥
   (पृ० रासो)
   (ख) ता जननिय को दोस, भरत खत्री जो सवइय।
   (पृ० रासो, २०३६)
५. आल्हा की माता ने कहा था—
   सदा पुत्र जीवै न कोइ, भूतल की यह रग।
   जो भूपति भय मंदमति, आयसु करो न भग॥ (परमार रा०, ४७)
६. बहुरि न हंसा पंजरह, जे पजर तुटि धार। (पृ० रा०, १३१६)
७. रजवट पूरी-काच की, भग्गी फिरि न सँधाइ।
   मनिया माहीं लाख की, कीजै आँच तपाइ॥ (पृ० रा०, २४७४)
८. जा धरती को खाइ कै, मरै न जामै कोइ।
   अंतकाल नर्कहि परै, जग मैं अपजस होय॥ (पर० रा० ४०६)

वीरयुग में नारी के दो रूप मिलते हैं—वीरमाता और वीरपत्नी। वीरमाता का जीवन उस समय धन्य माना जायगा जब उसका पुत्र शत्रु से युद्ध करता हुआ विजयी होकर लौटे या स्वयं वहीं अपना शरीर त्याग दे, रण में सोये हुए पुत्र के लिए माता शोक न करेगी प्रत्युत उसकी वीरता का कीर्तन सुनकर मन में फूली न समावेगी। वीर-पत्नी का जीवन भी पति के साथ है तथा मरण भी[1], इसलिए पति की वीरगति का समाचार पाकर वह सानन्द शृंगार करके उसके समागम[2] के लिए स्वर्ग चली जायगी। जो पत्नी ऐसा नहीं करती (कदाचित् ही कोई राजपूत-बाला ऐसी हो) उसको नरक मिलता है।[3] उस युग में स्त्रियों से दूर भागने वाली अवैदिक वृत्ति का पूरा विरोध हुआ,[4] और ऐहिक जीवन के लिए स्त्री का साथ आवश्यक समझा गया।[5] महाकवि चंद ने संयोगिता के पूर्व जन्म का वर्णन करते हुए बतलाया है कि स्त्री ने सुर, नर, असुर सबको मोह लिया है, स्त्री के कारण देवता मानव-शरीर धारण करते हैं, और स्त्री के कारण ही वीर लोग मानव-शरीर को हँसते-हँसते त्याग देते हैं—

स्याम सुरयौ मुनि रूप इन, सुरति प्रोय त्रिय आहि।
जा मोहे सुर नर असुर, रहे ब्रह्म सुख चाहि॥
इनह काज सुर परत, सूर तन तजत ततच्छिन। (पृथ्वीराज रासो, १२४३)

इसमें सन्देह नहीं कि उस युग में नारी के प्रति एक दूसरी भावना भी यत्र-तत्र सुनाई पड़ती है, वह आकर्षण का विषय न होकर घृणा की पात्र थी। नारी को बुद्धि में हीन[6], अविश्वास का पात्र[7], तथा पैर की जूती के

---

१. हम सुख्ख दुख्ख वटन समथ्थ। हम सुरग बास छंडै न सथ्थ॥
हम भूख प्यास अंगमें देव। हम सर समान पति हंस सेव॥
(पृ० रा०, २१४७)

२. पूरन सकल विलास रस, सरस पुत्र-फल खानि।
अंत होई सहगामिनी, नेह नारि को मानि॥ (पृ० रा०, २०१२)

३. निहचै वेद नरक तेहि भाखै।
पिय को मरत त्रिया तन राखै॥ (पृ० रा०, २५५६)

४. संसार त्रिया बिन नाहिं होत।
संजोगि सकति सिव माँहि जोत॥ (पृ० रा०, २१४७)

५. तुलना कीजिए—
कलत्रे गृहीर सुख, कलत्रे संसार।
कलत्रे हइते हय, पुत्र परिवार॥ (१६०) (कृतिवास : रामायण)

६. सब त्रिया बुद्धि नीची मिनंत। मानै न सच्च जो कुरि भनंत।
(पृ० रा०, २१४७)

७. साँप, सिंह, नृप, सुन्दरी, जो अपने बस होइ।
तौ पन इनको अप्प मन, करो बिसास न कोइ॥ (पृ० रा०, २०६४)

समान[1] तुच्छ तक कह दिया गया है। एक बात अवश्य है कि नारी का जीवन अनिश्चित था, वह वीरभोग्या थी, उसको स्वयं ही ज्ञात न था कि कौन वीर उसको जीतकर उसका स्वामी बन जायगा, प्रायः वह पितृकुल के शत्रु के हाथ जाती थी और तब उसको अपने पितृकुल का कोई मोह न रहता था। 'बीसल रासो' में विरहिणीरानी ने अपने नारी-जन्म को बार-बार धिक्कारा है[2], कि पति के साथ चैन से बैठने का भी अवसर नहीं मिलता। अन्य रत्नों के स वीरयुग की नारी स्वामी की शोभा थी, जिसका भाग्य अन्य रत्नों के समान वि तो न था परन्तु जिसका अस्तित्व पति के अस्तित्व का ही एक अंग था। युग में सामान्य नारी के प्रति भी आदर की ही भावना[3] मिलती है, नारी कि अर्थात् माता[4], तथा पत्नी के प्रति तो राजपूत के मन में पूजा के लिए भाव

## काव्य सौन्दर्य

यह ऊपर कहा जा चुका है कि वीरकाव्य ने संस्कृत काव्य-परम्परा अपनाकर संस्कृतेतर काव्य-शैली को अपनाया। इसके अनेक कारण हो सक जिनमें से मुख्य यह था कि वीरकाव्य लोककाव्य था परन्तु संस्कृत काव्य विद्व का विषय बन चुका था, दूसरे, ब्राह्मण धर्म ने भी यह जान लिया था कि जनता को अपनी ओर खींचना है तो जनता के ही माध्यम को अपनाना है इस युग के कवि केवल राजसभा के रत्न ही नहीं बने हुए थे प्रत्युत राज्य-व्य

---

सीता ने अग्नि परीक्षा के समय उलाहना दिया था—
पुरिस-णिहीण होंति गुणवंतिवि।
तियहे ण पत्तिज्जति मरंत वि॥ (स्वयम्भू की रामायण)

१. हूँ बराकी घणी मोकियउ रोस।
पाँव की पाणही सूँ कियउ रोस॥ (बीसलदेव रासो, ३३)

२. श्री जनम काई दीयो हो महेस। अवर जनम थारे घणा हो नरेस॥
रानह न सिरजो हरिणली। सुरह न सिरजो धौलु गाई॥
वन-खण्ड काली कोइली। बइसती अब कइ चंप की डालि॥
(बीसलदेव रासो,

३. दि राजपूत ऑनर्ड हिज विमन एण्ड दो देअर लौट वाज वन ऑफ दि " लिग हार्डशिप" फ्रौम दि कैडल टु दि क्रैमेशन दे शोड वन्डरफुल एण्ड डिटरमिनेशन इन टाइम्स ऑफ डिफिकल्टी एण्ड परफ़ौर्मेंड ऑफ वैलर विच आर अनपैरेलल्ड इन दि हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड।
(हिस्ट्री ऑफ़ मेडिवियल इण्डिया, पृ०

४. दस मास उदरि धरि, वले वरस दस, जो इहाँ परिपालै जिवड़ो।
पूत हेत पेखतां पिता प्रति, वली विसेखै मात वड़ी॥ ६॥
(वेलि क्रिसन रुकमणी

तथा युद्ध आदि में भी सक्रिय भाग लेते थे। इस युग का चारण राजा का मन्त्री, मित्र, पण्डित एवं ज्योतिषी भी होता था तथा उनका स्वामि-भक्त सैनिक भी; एक हाथ में तलवार तथा दूसरे में लेखनी लेकर वह जन-जन में जीवन का संचार करने पर तुला हुआ था। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य में सबसे सजीव तथा स्वाभाविकता पूर्ण काव्य वीर काव्य ही है, उसमें चमत्कार भी मिलेगा, परन्तु केवल उसी स्तर का जिसको कि सामान्य जनता भी समझ सके। वीरकाव्य मठों या राज्य-सभाओं में बैठकर नहीं रचा गया, प्रत्युत उत्सव या युद्ध आदि के अवसरों पर गाया गया है इसलिए उसमें सरलता और स्वाभाविकता कूट-कूट कर भरी है। किसी भी साहित्य के प्रारम्भिक काव्य जिन विशेषताओं से युक्त होते हैं, वे हमको रासो-काव्य में भी पर्याप्त मिल जाती हैं।

रासो-काव्य की मुख्य विशेषता यह है कि वे किसी शास्त्रीय परम्परा के रूप-मात्र नहीं हैं, वे दरबारी होते हुए भी यथार्थवादी हैं, काल्पनिक होते हुए भी ऐहिक हैं, ज्ञान-प्रदर्शन करते हुए भी पाण्डित्य से उबले नहीं पड़ते, तथा राजा-विशेष से सम्बन्ध रखते हुए भी युग-प्रतिनिधि हैं वे राजकवियों के द्वारा लिखे गये थे फिर भी जनता के जीवन से उनका निकट सम्बन्ध है। इनको 'महाकाव्य' कहकर ही सन्तोष नहीं किया जा सकता, क्योंकि पंडित समाज में महाकाव्य का जो लक्षण माना गया है वह इन पर नहीं घटता। यदि तुलना करना आवश्यक ही हो तो शैली की दृष्टि से इनको रामायण, महाभारत, महापुराण आदि के समकक्ष रखा जा सकता है; क्योंकि वाल्मीकि, स्वयम्भू तथा कृत्तिवास की रामायणें तथा महाभारत एवं हिन्दुओं के पुराण तथा जैनियों के महापुराण, आदिपुराण आदि सभी काव्य लोक-साहित्य के वर्ग में आते हैं, विशेषज्ञ-काव्य के वर्ग में नहीं। वाल्मीकीय रामायण में यों तो केवल सात ही काण्ड हैं परन्तु प्रत्येक काण्ड में कई-कई 'पर्व' हैं और पर्वों का विभाजन सर्गों में है, प्रत्येक सर्ग को एक विशेष नाम भी दे दिया गया है, जिसके समाप्त होने पर कवि ने बतला दिया है कि 'इत्यार्षे रामायणे सुन्दरकाण्डे लंकापर्वणि सीताविचारो नाम षट्त्रिंशः सर्गः'। और काण्ड के समाप्त होने पर कवि बतला देता है कि "समाप्तोऽयं सुन्दर-काण्डः'। रासो काव्यों में काण्ड तथा सर्ग नहीं है, केवल पर्व हैं जिनको 'समय' कहा गया है[1] और जिनकी संख्या ६९ तक है। विभाजन की यह शैली रासो-काव्यों की एक स्वकीय विशेषता है।

रासो-काव्यों की दूसरी विशेषता वस्तु-वर्णन है, जो उनके प्रारम्भिक काव्य होने का फल है। यह सम्भव है कि जिस भोज का वर्णन हो रहा है उसमें स्वयं कवि सम्मिलित न हो सका हो, या जिस युद्ध का चित्र खींचा जा रहा है

---

१. जैनों के चरितकाव्यों में 'सन्धि' नाम है, तथा सूफियों के आख्यान-काव्यों में 'खण्ड'। 'सन्धियों' की संख्या ११२ तक मिलती है, तथा 'खंडों' की ५७ तक।

उसमें वह स्वयं एक अंगरक्षक न रहा हो, परन्तु इस प्रकार के अनेक भोज और अनेक युद्ध उसने अपनी आँखों से देखे हैं, अतः अपनी प्रतिभा से वह पाठक के सामने एक ऐसा चित्र बनाता है जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का ब्यौरा तथा प्रत्येक वस्तु का (भेदोपभेद सहित) यथाक्रम नाम आता चला जाता है। जिस चित्र के लिए दूसरे कवि अलौकिक कल्पना तथा अलंकारों की सहायता लिया करते हैं उस का मनोहर रूप रासो काव्यों में स्थूल-सत्य तथा नाम-परिगणन[1] से ही निखर उठता है। वाल्मीकीय रामायण में भी जब कवि वर्णन करने लगता है तो नामों की एक लम्बी सूची तैयार हो जाती है, हनुमान जब अशोकवाटिका में पहुँचे तो उन्होंने कौन-कौन से तरुवर देखे इसका चित्र वहाँ देखने योग्य है; इसी प्रकार जब हनुमान सीता की खोज करके लौटे तब वानरों ने किस प्रकार हर्ष मनाया—कुछ खाने लगे, कुछ हँसने लगे, कुछ गरजने लगे, कुछ गाने लगे, कुछ दौड़ने लगे आदि आदि—यह भी अनेक क्रियाओं की लम्बी सूची है। स्वयम्भू ने अपनी रामायण में मनोमोहक भोज का जो वर्णन[2] किया है, या कृतिवास ने बँगला रामायण में दशरथ की बरात के वाद्यों[3] के नाम तथा गिनती[4] बताई है उसको पढ़कर एक ओर तो रासो-काव्यों की परम्परा का ध्यान आ जाता है दूसरी ओर जायसी को फिर पढ़ने की इच्छा होती है। पृथ्वीराज रासो के ६३ वें 'समय' में (पृ० १९९० से २००० तक) "पकवान और मिठाई वर्णन", "अचार वर्णन", तरकारियाँ और गोरस वर्णन", तथा "दाल भाजी खटाई" आदि का इसी प्रकार का भांडार है।

---

१. क्लासिकल संस्कृत साहित्य में वर्ण्य-विषय तो केवल "उज्जयिनी नाम नगरी" या "अच्छोद नाम सरः" (कादम्बरी) ही है परन्तु अप्रस्तुत सामग्री की कोई सीमा नहीं; रासो-काव्यों में प्रस्तुत सामग्री ही इतनी संभावनातीत है कि अप्रस्तुत की आवश्यकता नहीं होती।

२. वहुविह भोयण मोयण—सज्जइ। सक्कर—खंडेहि पायस—पयसेहि। लड्डुव—लावण—गुल—इक्खुरसेहि। अल्लय—पिप्पली—मिरिया—मलयहि॥
केलय—णालेकर—अंबीरिह।······

३. पाखोयाज पञ्चाश सहस्र परिणाम।
तिन कोटि शिगा राजे अति खरसान।
राजे शतकोटि शंख आो घंटाजाल।
मोरंग सहस्रकोटि शुनिते रसाल॥ (३३)

४. यदि कवि विरत होता है तो अपनी असमर्थता से या पुस्तक के आकार पर दया करके ही—
प्रत्येक कहिते नाम नितान्त अशक्य। (५१)
प्रत्येक बर्णिले हय पुस्तक विस्तार॥ (५९) कृत्तिवास

रासो काव्यों में केवल वस्तुओं के नाम गिनाये गये हों, ऐसा
वहाँ पर सक्रिय चित्र भी वर्णन को मनोहर बना देते हैं, इस प्रकार के
या उपवन आदि की अपेक्षा रणक्षेत्र में अधिक मिलते हैं, कहीं तलवारों
रहे हैं तो कहीं हाथियों की चिंघाड़, कहीं रक्त के परनाले हैं तो कहीं
की भरमार। जिस प्रकार वस्तुओं के परिगणन को वस्तुतः अथवा उ
टाला नहीं जा सकता है, उसी प्रकार इन सजीव एवं सक्रिय चित्रों को
क्योंकि वर्णकार के अन्तर्गत नहीं रख सकते। यह शैली वीरकाव्यों की प
पीछे तक चलती रही' और आठ सौ वर्ष उपरान्त 'सुजानचरित' लिख
मथुरा-निवासी कवि सूदन की लेखनी से दिल्ली की लूट का प्रभावशा
इसी शैली के कारण चमक उठा—

> करि-करि ससकारे गनो-गस्यारे, सोरि किवारे पुरवारे।
> गहि कर्रान पलारे, लहि उपरारे, उक्त प्रदारे पग धारे।
> बज्जत कुठारे, सस सठारे, पौरि बुवारे भुव पारे।
> ऊँचे घरबारे खड़े पुकारे, हुवा कहा रे करतारे।
> रव हाहाकारे घोर महा रे, बूढ़े-बारे चिक्कारे।
> चिक्कारनु धारे धावत रारे, मारे आरे ले आरे।
> सँके तरवारे देत धकारे, किल्लोवारे बेआरे॥

इस स्थूल वर्णन का मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि रासो
के विषय तथा पाठक दोनों ही कवि के सामने रहते थे—समकालीन रा
तो वह वर्णन करता था और यह वर्णन होता था सामन्तों तथा प्रजा
लिए। इसलिए ईश्वर, देवता अवतार या महापुरुषों के वर्णन की अपेक्षा
सजीवता अधिक मिलती है। इस वर्णन में पाण्डित्य का स्तर कुछ नी
कारण हम ऊपर बतला चुके हैं कि इसके पाठक (अथवा श्रोता) कुछ वि
सभासद नहीं थे अपितु सामान्य सैनिक तथा समस्त प्रजावर्ग था।

## अप्रस्तुत योजना

वीरकाव्यों के सौन्दर्य-पक्ष का अध्ययन करते हुए हमको दो प्रका
प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं—एक का उद्गम संस्कृत-साहित्य से है और
का लोक-साहित्य से, संस्कृत का प्रभाव शृंगार आदि कोमल रसों में अ
मिलता है क्योंकि इनकी भोगभूमि कदाचित् राजसभा रही होगी, अन्यत्र 'प्र
प्रभाव है क्योंकि वह जनसामान्य की वस्तु थी। संस्कृत में पण्डित-परम्पर
सौन्दर्य सम्बन्धी ऐसे नियम बने हुए थे जिसका पालन कवियों का कर्तव्य
जाता था, उदाहरण के लिए किस अंग के वर्णन के लिए किस अप्रस्तुत का उप

[ चाहिए, यह निश्चित था। रासो काव्यों ने इस प्रवृत्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार अधिक अपनाया है और जैसा कि स्वाभाविक है शरीरांगों के वर्णन में ।वना का आधार वस्तूत्प्रेक्षा ही है। महाकवि चन्द ने पद्मावती के रूप र्णन इसी शैली पर किया है और गजनी की सुन्दरियों के चित्र भी इसी ! के हैं।

तमोर कोर रत्तियं। वसन्न ते सुभत्तियं॥
मनो कि हार पक्तियं। अतार ते दरक्कियं॥
हलें अलक्क लंबियं। उरोज सो बिलंबियं॥
मनो कि ते उरग्गियं। कलो कुमूद लग्गियं॥ (६७वाँ समय)

यहाँ पर दाँत, केश, उरोज आदि के लिए जिन अप्रस्तुतों का उपयोग वे संस्कृत साहित्य में परम्परा¹ से प्रसिद्ध थे। यह परम्परा अन्य सादृश्य-अलंकारों विशेषतः प्रतीप के साथ भी दिखलाई पड़ती है। परन्तु एक बात यह है कि शृंगार आदि रसों में भी अधिक चमत्कार वाले अलंकार ना, विरोध, विषम, विशेषोक्ति, अपन्हुति आदि नहीं मिलते, कारण इन का लोक-स्तर ही है।

दूसरी प्रवृत्ति का आभास नाम गिनाने वाली शैली में ऊपर मिल चुका र्थ-वृद्धि के लिए इन काव्यों ने एक प्रकार की अत्युक्ति को अपनाया है, कई रूप हैं, जिनमें से मुख्य है 'संख्यात्मक अत्युक्ति', जिसमें वर्णन करते वस्तु को ठीक-ठीक माप या मात्रा बतलाई जाती है। रासो काव्यों में इस का उपयोग वैभव-वर्णन, युद्ध-वर्णन तथा भोज-वर्णन—तीनों ही स्थलों गया है। 'पृथ्वीराज रासो' के ६६वें समय में "रावलजी की खातिर-कितना अन्नादि व्यय हुआ यह कवि ने ठीक-ठीक बतला दिया है²", पर की लड़ाई के समय लूट में क्या-क्या और कितना-कितना मिला ।³ है, तो कवि नरपति नाल्ह यही बतलाते हैं कि राजा बीसलदेव के

---

र-रासो में भी इस प्रकार का सौन्दर्य द्रष्टव्य है—
अधरान रागु तमोल जोम।
जनु कमल मध्य दाड़िमय बीज।
मुसक्याय पिक्ख दृदु मंद हास।
चचला चमकि जनु इंदु पास।
आरूढ़ दन्त छबि परम पूर।
मनु सिसिर मनहु उदवेग सूर॥ (१६१)
न सैं पंथ, साक पल्लव तैतालय।
अनपाह, घृत मन असी अनोपम।
पंचास, बीस मन बेसन दीनो॥ (पृ० रा० २११८)
व बाजिन, सहस तीनहु मय मत्तहु।

अभियान के समय उसके साथ कितने सैन्य थे, कितनी पालकियाँ थीं, और कितने हाथी थे —

साठ सहस मैं जा-धणी, पालकी बैठा सहस पचास।
हाथी बान्ध्या डोढ़सौ, असीर सहस बान्ध्या केकाण॥

यह प्रवृत्ति पाली[1] तथा अपभ्रंश के काव्यों में बहुत पहिले ही प्रचलित थी और उन्होंने भी जनता के व्यवहार से इसको अपनाया होगा। पुष्पदन्त के 'महापुराण' में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं—

अट्ठरासी लक्खइं कुंजराहं । तेत्तिय सहसइं रहवराहं ।
पण्णरह सहासइं राणियाहं । बत्तीस सियहं संताणियहं ।
सोलह सहसइं सिवहं सुरहं । माणावराहं पंजलियराहं ॥

(छत्तीसमो सन्धि)

अत्युक्ति का दूसरा रूप 'चित्रात्मक अत्युक्ति' में मिलता है, जहाँ न तो संख्या बतलाई जाती है और न ऊहा की सहायता लेनी पड़ती है, केवल वर्ण्य-वस्तु का चित्र खींचकर उसकी अभिव्यंजना पर बल दिया जाता है। हिन्दी साहित्य की यह अत्युक्ति शैली आगे चलकर लुप्त हो गई, यह अत्यन्त खेद की बात है। युद्ध की विकरालता का वर्णन यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि उसमें इतने व्यक्ति, इतने हाथी-घोड़े मरे, और यह बतलाकर भी किया जा सकता है कि रक्त के नाले बहने लगे[2]—प्रथम को संख्यात्मक अत्युक्ति कहेंगे और दूसरे को चित्रात्मक, क्योंकि इसमें पाठक के सामने एक वास्तविक रूप आ जाता है जिसके द्वारा अभीष्ट अभिव्यंजना पर पहुँचना कठिन नहीं रहता। चित्रात्मक में यदि खींचतान की जावे तो ऊहा बन जाती है जो कि फारसी के प्रभाव से आगे चलकर हिन्दी साहित्य में स्थान-स्थान पर दिखलाई देती है।

अत्युक्ति का सहारा लेते-लेते हमारे कवि कभी-कभी कल्पना-लोक में जा पहुँचते हैं, उस समय उनको इस संसार की विषमताओं तथा मात्राओं का ध्यान

---

तहव एक लोखार, तेज ऐराकी तत्तह।
आराबी हप्पिनी, सत्त सैं सत्त सु मारिय। (६१४)

१. श्री ईशानचन्द्र घोष लिखते हैं—
पालिग्रन्थकारेरा बहुसंख्या द्योतनार्थ एक एकटा स्थूल संख्या निर्देशेर बड़इ पक्षपाती। जिनि धनी तिनि अशीति कोटि सुवर्णेर अधिपति बलिया वर्णित, जिनि आचार्य तिनि पञ्चशत शिष्यपरिवृत, जिनि सार्थवाह तिनि पञ्चशत शकट लइया वाणिज्य करिते जान।
(उपक्रमणिका, जातक, प्रथम खण्ड)

२. लोहान तनी बज्जे लहरि, कोउ हल्ले, कोउ उत्तरै।
परनाल रुधिर चल्लै प्रबल, एक घाव एकह मरै॥

नहीं रहता।[1] परमाल-रासो के रचयिता ने नगर का वर्णन करते हुए सभी पुरुषों को स्वेच्छानुकूल भोग भोगनेवाले देवों के अवतार, तथा सभी रमणियों को मेनका से बढ़कर रूपवती बतलाया है, आगे चलकर जायसी ने भी ऐसा ही किया। "रावल जी की ज्योनारवारी" वाले उदाहरण में कवि को यह ध्यान नहीं रहा कि जिस भोज में पाँच मन आटा, पचास मन मैदा तथा बीस मन बेसन लगा होगा उसमें अस्सी मन घी नहीं लग सकता। इसी प्रकार 'आल्हखंड' में[2] आल्हा-ऊदल की खिचड़ी में जितनी हींग पड़ती बतलाई गई है उस पर विश्वास तो होना ही नहीं उसको पढ़कर केवल हँसी आती है। परन्तु ऐसे उदाहरण इन काव्यों में अधिक नहीं हैं। हाँ, वैभव के वर्णन में ये कवि स्वर्ण, चन्दन, हीरा तथा पन्ना के बिना[3] चलना ही नहीं सीखे।

अत्युक्ति के अनन्तर वीरकाव्यों का दूसरा प्रिय प्रसाधन वह है जिसको आजकल 'ध्वन्यर्थव्यञ्जना' कहा जाता है, इसका व्यवहार भी अपभ्रंश काव्यों में पर्याप्त मात्रा में मिलता है, शृंगार रस[4] और वीर रस दोनों ही स्थलों पर। युद्धस्थल में उत्साहित करने के लिए सिंहनाद कितना काम करती है इसे सभी जानते हैं, और खड्गों की खटखटाहट, बाणों की सरसराहट, एवं घोड़ों की हिनहिनाहट का भी प्रभाव सर्वविदित है; दूसरी ओर नूपुरों की छन-छन, पायल की झन-झन तथा किंकणी की कण-कण का संदेश भी सब जानते हैं। रासो-काव्य नाद[5] को अधिक पहचानता था, इसलिए उसमें नाद के द्वारा ही अर्थ तक

---

१. सबै पुरुषं इच्छ की भोग पावै। जरैं इंदिरापति चित्तं लगावै॥
   धरैं रूप जोबन्न की रूप नारी। तहाँ मेनिका आदि दै अग्रधारी॥
२. आल्हा-ऊदल की खिचड़ी मा, परिगै सवा लाख मन हींग।
३. (क) चंदन काठ को मांडहो, सोना की चोरी, मोती की माल।
   (बीसलदेव रासो, २२)
   (ख) चन्दन माट, कपाट ई चन्दन।
   कुम्भी धनी प्रवाली खम्भ। ३६। (वेलि किसन रुकमणी री)
४. लहलह लहलह लहलहए उर मोतिय हारो।
   रणरण रणरण रणरणइ पग नूपुर सारो।
   जगमग जगमग जगमगै कानहिं वर कुंडल।
   झलमल झलमल झलमलै आभरणहँ मंडल।
   (जिनपद्मसूरि : थूलिभद्दफागु)
५. युद्धस्थल की ध्वनियों के कुछ रूप देखिये—
   ममक्कं-ममक्कं बहै रक्तधारं।
   सनक्कं-सनक्कं बहै बान मारं।
   दडक्कं बजै सध्ध मध्ध सुघट्टं।
   कडक्कं बजै सेन सेना सुघट्ट॥

चाने वाली सर्वजन-सुलभ ध्वन्यर्थव्यञ्जना की शैली के असंख्य उदाह लते हैं—

(१) भननं भननं भय नूपुरयं।
खननं खन घूरिय भूरि भयं। (परमाल-रासो—शृंगार)

(२) हहकंत कूदंत नंचे कमंधं। कडक्कंत बज्जंत छुट्टंत संधं।
सहक्कंत तूटंत तूटंत मूमं। भुकंते धुकंते धोऊ बध्य भूमं॥
(पृ० रा० २११)

'कडकंत', 'दडकंत', 'तूटंत' आदि ऐसे शब्द हैं जिनको सुनकर ही उन या का चित्र नेत्रों के सामने आ जाता है; इनसे मिलते-जुलते शब्द 'हहकं हाकार करते हुए), बज्जंत (बजते हुए) आदि भी अपेक्षित भाव की उत्प सहायक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति कारण वीरकाव्यों में संस्कृत काव्य-परंपरा का अधिक प्रभाव नहीं पड़ सक और न इनमें पाण्डित्य को ही प्रोत्साहन मिल पाया है; इनमें वर्णन तय द की ही प्रधानता है, और किसी न किसी रूप में अत्युक्ति ही इनका प्राण। अत्युक्तियों में अलौकिकता का एक पुट सर्वदा रहता है, जिसको आज का ढवादी आलोचक कल्पना की व्यर्थ उड़ान ही कहेगा, परन्तु जो उस समय की रता में जीवन भरने के लिए परम आवश्यक था। चंद कवि ने कुमारी संयोगिता उत्तरोत्तर अंग-विकास का वर्णन करते हुए बतलाया है कि दूसरी बालाएँ तना एक दिन में बढ़ती हैं उतना वह एक घड़ी भर में बढ़ जाती है और री बालाएँ जितना एक मास में बढ़ती हैं उतना वह रसवती एक पक्ष में ही जाती है'; 'राठौड़राज प्रिथीराज' ने लगभग इसी बात को अपनी नायिका विषय में इस प्रकार कहा है—

अनि वरिस वधे, ताइ मास वधे ए,
वधै मास ताइ पहर वधन्ति।१३।
(वेलि क्रिसन रुकमणी री)

दूसरा उदाहरण विरह की उस दुर्बलता का लिया जा सकता है, जिसमें मांग की अँगूठी दक्षिण हाथ का कंकण बन गई थी, और जिसका उल्लेख देश रासक' के रचयिता कवि अद्दहमाण ने॰ भी किया था, तथा आगे चलकर

---

भभक, सनक, दड़क तथा कड़क का तो भाषा में आज भी प्रयोग होता खेद है कि आज के कवि इन ध्वन्यर्थक शब्दों को भूल ही बैठे हैं।

बढ़ै बाल जो दीह, घरिय सो बढ़ै स सुन्दरि।
और बढ़ै इक मास, पाख बढ्ढै रस-सुंदरि॥ (१२६०)

सन्देसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहण न जाइ।
जो कालंगुलि मूंदडउ, सो बाहडी समाइ।

# ३ | विद्यापति और चण्डीदास

विष्णु के दस अवतारों में से जो अवतार काव्य के मुख्य प्रेरक बने उनकी दिशाएँ भिन्न-भिन्न थीं। रामावतार का प्रभाव गम्भीर है तो कृष्णावतार का मर्मस्पर्शी। हिन्दी में आने तक तो राम की मर्यादा और कृष्ण की लीला मानस में समझौता करने का प्रयत्न कर रही थीं; इसलिए सूर के काव्य का सुखात्मक पक्ष भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि दुःखात्मक पक्ष। परन्तु हिन्दी में आने से पूर्व कृष्ण काव्य में वेदना, टीस या करुणा का प्राधान्य है। गौडीय वैष्णव काव्य के आदि कवियों से इस कथन का समर्थन मिल सकता है। गौडीय वैष्णव काव्य के तीन आदि कवि जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदास हैं। जयदेव का "गीत गोविंदम्" संस्कृत भाषा में रचित लोकगीत है, जिसमें पूरी तल्लीनता के साथ राधाकृष्ण की केलि-कथाओं का मनोहर वर्णन किया गया है। विद्यापति ने मैथिली में तथा चण्डीदास ने बँगला में उसी कथा को अधिक सरस बनाने का सफल प्रयत्न किया है। यद्यपि तीनों कवियों का एक ही आधार है और शायद एक ही उद्देश्य, फिर भी उनके व्यक्तित्व ने उन तीनों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर ला दिया है।

विद्यापति और चण्डीदास दोनों ने, शायद स्वाभाविकता के लिए, संस्कृत के स्थान पर लोक-भाषा को अपनाया; दोनों ने स्वतंत्र पद लिखे हैं जिनमें "गीत-गोविंदम्" की जैसी नाटकीय छाया नहीं मिलती, और दोनों में श्याम की अपेक्षा राधा की भावनाओं का अधिक चित्रण है, फिर भी दोनों का भेद स्पष्ट है। विद्यापति में सुख अधिक है करुणा कम, विलास अधिक है वियोग कम; चण्डीदास में स्वाभाविकता है, गम्भीर बनाने वाली वेदना है, समाज की मर्यादा को तोड़ने वाला प्रेम ही चण्डीदासीय राधा की सबसे बड़ी साधना बनकर उसको पूर्णता प्रदान करने में समर्थ है। विद्यापति का प्रेम लोक-व्यवहार-मात्र है, परन्तु चण्डीदास की प्रीति एक साधना-पथ है—एक धार्मिक सम्प्रदाय जिसका अवलंबन करके साधक जन्म-जन्मान्तर के लिए निश्चित हो जाता है।

विद्यापति की राधा मुग्धा नायिका है, उसने श्याम के रूप से आकृष्ट

होकर और सखी की बातों में आकर श्याम से गुप्त प्रेम किया, परन्तु नायक 'पिशुन' निकला और उस स्नेह का निर्वाह न कर सका। फलतः राधा जीवन भर अपनी भूल पर पछताती रही। चण्डीदास की राधा पूर्व संस्कारों के कारण श्याम की ओर आकृष्ट हुई। किसी ने उसके सामने श्याम का नाम लिया प्रथम बार, उसे ऐसा लगा मानो कानों में अमृत वर्षा हुई हो, वह उसी नाम को जपने लगी और उसके मन में एक ज्वाला-सी जग गई। 'श्याम' नाम कितना मधुर है, एक बार कान में जाकर सीधा मेरे हृदय को स्पर्श करता है और मन को व्याकुल बना देता है—

> सइ के बा शुनाइल श्याम-नाम।
> कानेर भितर दिया, मरमे पशिल गो, आकुल करिल मोर प्राण।
> ना जाने कतेक मधु, श्याम नामे आछे गो, बदन छाड़िते नाहिं पारे।
> जपिते जपिते नाम, अवश करिल गो, केमन पाइब, सइ, तारे॥

जिसके नाम में इतना मधु है उसके रूप में कितना आकर्षण होगा और उसके स्पर्श में कितना मोह होगा—इतना अनुमान कठिन है। राधा यही सोचने लगी। जिस व्यक्ति का आज तक न रूप देखा, न जिसके गुणों को सुना उसके नाम-मात्र से जब मन की दशा एक विशेष प्रकार की हो जाय तो उसमें कारण जन्मान्तर संस्कारों को ही मानना पड़ेगा। चण्डीदासीय राधा की प्रीति इसी प्रकार की है, उसे कुछ-कुछ ऐसा आभास भी मिलने लगा कि इस सामान्य घटना का एक दिन परिपाक कितना दारुण हो सकता है। सम्भव है शरीर को छूने तक का अवसर न मिले परन्तु घर-बाहर आते-जाते कभी तो श्याम को देखूँगी ही—आँखें बन्द करके तो नगर में रहा नहीं जा सकता—तब युवती-धर्म कैसे रहेगा, कलंक लगने में कमी भी क्या रह जायगी—

> नाम परतापे जार, एछन करिल गो, अंगेर परशे कि वा हय।
> जेखाने वसति तार, नयाने देखिया गो, युवती-धरम कैछे रय॥

विद्यापति की राधा ने श्याम के केवल नाम को कभी नहीं सुना और यदि सुना भी होगा तो उसने कभी उस पर ध्यान नहीं दिया, उसका प्रेम सीधा रूप-दर्शन से ही प्रारम्भ होता है। उसने भावी कलंक की कल्पना भी नहीं की, सोचा यही था कि क्षण भर की यह परवशता दोनों को स्थायी स्नेहसूत्र में बाँध देगी :—

> (क) पुर-बाहर सब करत गतागत के नहिं हेरत कान्ह।
> तोहर कुसुम-सर कतहुँ न संचर, हमर हृदय पँचबान॥
> (ख) तिला एक संगम, जाव जिव नेह॥

यह प्रेम का प्रारम्भ था। विद्यापति की राधा 'केलि-कलावती' तथा 'विलास-विदग्धा' है। वह अनेक प्रकार से नायक से मिलने लगी, नायक भी संकेत-स्थल पर पहुँचने लगा। यौवन का प्रथम ज्वार था, मन में प्रस्तुत वास-

रात-रात-भर विलास-मग्न रहने पर भी तृप्ति नहीं होती—

बहिरुक परिचय, प्रेमक संभव, सकली लाय समाने।
सकल कला एत संवरि न भेले; डीठिन भेल ओर माने ॥

विलास के जितने सुन्दर चित्र विद्यापति में मिलते हैं उनके समान चण्डीदास में नहीं हैं। सुनीलकुमार चटर्जी के शब्दों में "विद्यापतिर र... विलासकलामयी ईषद्‌हास्यमयीवयस्या कलगानप्रगल्भा किशोरीरूपे, मामालि... निकट उपस्थित"; श्री दीनेशचन्द्र सेन के शब्दों में "एइ राधा जयदेवेर रा... स्वाद शरीरेर भाग अधिक, हृदयेर भाग कम," और कविवर रवीन्द्रनाथ... शब्दों में "विद्यापतिर राधिकार प्रेमे वेदना अपेक्षा विलास बेशी। इहाते गभी... नाइ एखन स्पर्श नाइ, केवल नवानुरागेर उद्भ्रान्त लीला ओ चाञ्चल्य। हृद... नवीन वासना सकल शाखा मेलिया उडिते चाय, किन्तु एखनो पथ जाने नाइ।"

विद्यापति की राधा मुग्धा है, भोली-भोली सरला; परन्तु चण्डीदास... राधा को इतनी भोली मत समझिए। यह ठीक है कि उसने प्रीति जीवन... पहली बार ही जोड़ी थी। परन्तु वह संसार को देखकर यह जानती है कि प्री... में कितनी बाधा होती है उसका निर्वाह कितना कठिन है और उसका अ... कितना करुण होता है। जिस प्रकार किसी अज्ञात प्रेरणा ने श्याम नाम... प्रति उसके मन में मोह उत्पन्न कर दिया था, उसी प्रकार प्रेम के प्रभाव में... उसके मन में यह आशंका जगी कि न जाने यह प्रेम सफल हो सकेगा भी या नहीं... इस आशंका का कारण न तो अपना कोई कटु अनुभव है और न श्याम के प्रति... अविश्वास, यह आशंका संसार की गति का प्रतिबिम्ब मात्र है। परिस्थिति... इतनी दारुण बन जाती हैं कि स्निग्ध व्यक्ति को भी निष्करुण बन जाना पड़ता... है; अथवा यह आशंका भावी करुणा का संकेत स्थल था। राधा ने एक दिन अन्त-रंग सखी से कहा—

एइ भय उठे मने, एइ भय उठे।
ना जानि कानुर प्रेम तिले जनि टुटे ॥
गड़न भाँगिते सइ, आछे कत खल।
भाँगिया गड़िते पारे से बड़ विरल ॥

चण्डीदास के प्रेम की यही विशेषता है कि आन्तरिक प्रेरणा के कारण सब कुछ देखते हुए भी, राधा अपना जीवन करुणा की वेदी पर होम कर देती है—*किसी ने उसको बहकाया नहीं, भोली होने के कारण वह भूल नहीं कर बैठी;* प्रत्युत उसके अन्तःकरण ने अपनी समग्र चेतना के साथ करुणा-सागर में हँस-हँस कर गोता लगा दिया :—

सइ, के बले पीरिति भाल।
हासिते हासिते, पीरिति करिया, काँदिते जनम गेल ॥

अन्तःकरण की प्रेरणा से जब हम किसी को प्रेम करने लगते हैं तो चार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हमारी मनोदशा ध्यान देने योग्य होती है—(१) प्रेम-पात्र के प्रति हमारा कथन, (२) प्रेम-पात्र की प्रतिक्रिया, (३) अन्तरंग

सहचर के प्रति हमारा पश्चात्ताप-कथन, (४) समाज में हमारी चर्चा। प्रेम-पात्र को हम आत्म-समर्पण कर देते हैं, सारा दोष अपने सिर लेते हैं, और आगामी जीवन मे सफल संयोग की कामना करते-करते उसके मन को कष्ट से बचाते हैं। चण्डीदास के जितने पद 'बन्धु' के प्रति कहे गये हैं, वे इसी वर्ग मे आवेंगे, इनमें शिकायत नहीं है, प्रत्युत प्रेमपात्र के कुसुम-कोमल मन को तनिक सी भी ठेस न लगे, यही विरहदग्धा राधा का प्रयत्न है—

(क) बन्धु, कि आर बलिब आमि।
जीवने मरणे जनमे जनमे प्राणनाथ हइयो तूमि।
तोमार चरणे आमार पराणे, बाँधिल प्रेमेर फाँसी।
सब समर्पिया, एकमन हइया, निश्चय हइलाम दासी।

(ख) बन्धु सकल आमार दोष।
ना जानिया यदि, करयाछि पिरीति, काहारे करिब रोष।
सुधार समुद्र, समुखे देखिया, आइलु आपन सुखे।
के जाने खाइते, गरल हइबे, पाइब एतेक दुखे॥

(ग) आनेर अनेक आछे आन बंधु, राधार परान तूमि।

(घ) कलंकी बलिया डाके सब लोके, ताहाते नाहिक दुख।
तोमार लागिया कलंकेर हार, गलाय परिते सुख।
सती वा असती, तोमाते विदित, भाल मंद नहिं जानि।
कहे चण्डीदास पाप-पुण्य मम, तोमार चरण खानि॥

अब प्रेम-पात्र की प्रतिक्रिया देखिए। हम उसको प्राप्त तो शायद इस जीवन में न कर सकें, परन्तु उसके मुख से इतना अवश्य सुनना चाहते है कि "तुमि से आमार, आमि से तोमार"; मन की अनन्त ज्वाला अमृत की इसी एक बूद से शान्त हो जायगी। चण्डीदास की राधा को इससे भी अधिक मिल गया, उसका प्रिय अपने दुःख को सुख मानता है और राधा के दुःख से दुखी है, ऐसी प्रीति सचमुच बड़े सौभाग्य का फल है—

आपनार दुःख सुख करि माने आमार दुःखेर दुःखी।
चण्डीदास कय बंधुर पीरित, शुनिया जगत सुखी॥

राधा ने कभी-कभी अन्तरंग सखी से अपनी वेदना को कह दिया केवल इस आशा से कि सखी राधा की इस प्रवृत्ति की सराहना करके उसको प्रोत्साहित ही करेगी—

सुखेर लागिया, पीरित करिलु श्याम बन्धुयार सने।
परिणामे एत दुख हबे बले, कोन अभागिनी जाने।
सइ, पीरिति विषम मानि।
एत सुखे, दुख हबे बले, स्वपने नाहिक जानि।
... ... ...
दरशन-आशे, के जन फिरये, से एत निठुर केन।

इस प्रकार का पश्चाताप विद्यापति में अधिक है परन्तु वहाँ पश्चाताप वास्तविक है, यहाँ सखी से समर्थन पाने की इच्छा से अभिव्यक्त किया गया। चण्डीदास में सखी कितना प्रोत्साहित करती है—

(क) मरम न जाने, धरम बाखाने, एमन आछये जारा।
काज नाइ सखि तादेर कथाय, बाहिरे रहुन तारा।
(ख) पीरिति लागिया, आपना भुलिया, परेते मिशिते पारे।
परके आपन करिते पारिले, पीरिति मिलये तारे॥

यदि राधा सदा श्याम को क्षमा करती रहती और कसक का घूंट आँख बन्द करके पी जाती तो हम उसको अपने समान ही सामान्य मानवी न कह सकते; जिस पर पूरा विश्वास है उससे भी तो कभी-कभी खीझ उठती है क्योंकि हम उस पर अधिकार समझकर उससे बहुत कुछ आशा करते हैं। चण्डीदास की राधा श्याम की कठोरता तथा समाज के आवेश के बीच उसी प्रकार कुचल गई, जिस प्रकार कि सिल-बट्टे में धनिया या मेहदी की कोमल पत्तियाँ, तभी तो उसके जीवन से उठकर कोमल सौरभ फैलने लगा। खीझकर उसने श्याम को शाप दिया, किसी अमंगल का आवाहन करते हुए नहीं—जिसको प्यार करते हैं उसके अमंगल की कल्पना भी असह्य है—यह शाप स्निग्धहृदया करुणामूर्ति राधा के कोमल मनोभावों का कितना सावधान परिचायक है! 'जैसी दशा मेरे मन की है, वैसी ही उसके मन की हो' :···

(क) आमार पराण, जेमति करिछे, सेमति हउक से।
(ख) कामना करिया सागरे मरिब, साधिब मनेर साधा।
मरिया हइब श्रीनन्देर नन्दन तोमारे करिब राधा॥
पीरिति करिया, छाड़िया जाइब, रहिब कदंब तले।
चंडीदास कय तखनि जानिबे, पीरिति केमन ज्वाला॥

इस संसार की यही तो सबसे बड़ी विडम्बना है कि जिस धन (धनि प्रेम-पात्र) की हम कामना करते हैं वह हमको मिल नहीं पाता और संसार में हमारी बदनामी हो जाती है—

जे धन माँगये, ता ना पाइये, अपयश पाछे रय।

राधा और श्याम का मिलन भी हुआ। विद्यापति ने इस संयोग के बड़े ही सुन्दर चित्र बनाये हैं, केलि तथा रति के मनमोहक चित्रण में सचमुच वे अद्वितीय हैं—

सुखद सेजोपरि नागर-नागरि बइसल नव रति साधे।
प्रति अंग चुम्बन रति-अनुमोदन, थर-थर काँपय राधे॥

इन चित्रों के अतिरिक्त रूप तथा यौवन के वे चित्र भी इसी उल्लासमय जीवन के सहायक हैं जो मन में विलास की लालसा जगाते हैं, विद्यापति इन चित्रों में भी अद्वितीय हैं—

(क) चाँद सार लए, मुख घटना कर, लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोय आँचर धनि पोंछलि, दस दिसि भेल अँजोरे ॥

(ख) आध बदन-ससि बिहँसि देखाओलि, आध पीहलि निअ बाहू।
किछु एक भाग बलाहक झाँपल किछुक गरासल राहू ॥

(ग) कबरी-भय चामरि गिरि कंदर मुख-भय चाँद अकासे।
हरिन नयन-भय सर-भय कोकिल, गति-भय गज बनवासे ॥
सुन्दरि किए मोहि सँभासि न जासि।
तुअ डर इह सब दूरहि पलायल तुहुँ पुन काहि डरासि ॥

इस क्षेत्र में चण्डीदास को विद्यापति से कोई तुलना नहीं। क्योंकि कवि-वर रवीन्द्र के शब्दों में, 'विद्यापति सुखेर कवि, चण्डीदास दुःखेर कवि। विद्यापति विरहे कातर हइया पड़ेन, चण्डीदासेर मिलनेउ सुख नाइ।...विद्यापति भोग करिवार कवि, चण्डीदास सह्य करिवार कवि।" चण्डीदास में मिलन है परन्तु संयोग नहीं—संभोग नहीं। सम्भोग से प्रेम की पवित्रता और दिव्यता नष्ट हो जाती है। प्रेम मानसिक घनिष्ठता का ही नाम है जिसके लिए शारीरिक सम्पर्क अनिवार्य नहीं और क्योंकि शारीरिक सम्पर्क सांसारिक वस्तु है इसलिए इसका विधान सामाजिक नियमों से संघटित होना चाहिए। मानसिक घनिष्ठता और सामाजिक नियमों में जब परस्पर विरोध आ जावें तब दोनों में सामञ्जस्य स्थापित कर लेना पड़ता है; प्रेम का निर्वाह पारस्परिक मनोयोग से हो सकता है और सामाजिक नियमों का निर्वाह एक दूसरे के शरीर को न छूने की प्रतिज्ञा से। विद्यापति इस बात को सोच भी न सकते थे, परन्तु चण्डीदास का यही आदर्श है। यह ठीक है कि हृदय की ज्वाला उस समय तक शान्त नहीं हो सकती जब तक कि दोनों हृदय, बीच के सारे विघ्नों को दूर करके, एक दूसरे से चिपक न जावें, परन्तु क्या ज्वाला का शान्त होना आवश्यक है? ज्वाला ही तो प्रेम का प्राण है, ज्वाला शान्त होते ही प्रेम निर्जीव हो जाता है और ज्यों-ज्यों ज्वाला बढ़ती जाती है त्यों-त्यों प्रेम अमर होता जाता है—

(क) जार जत ज्वाला तार तत पिरीति ॥

(ख) सदा ज्वाला जार, तबे से ताहार मिलये पिरीति धन ॥

(ग) अधिक ज्वाला जार, तार अधिक पिरीति ॥

इसलिए चण्डीदास के प्रेम का आदर्श अत्यन्त महान् है। जिस प्रकार कमलपत्र जल के बिना सूखकर मुरझा जाता है परन्तु जल में रहकर भी जल का स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार जल के स्पर्श के बिना ही स्नान करने वाला व्यक्ति, प्रेमपात्र के सदा निकट रहकर भी उसके शरीर को हाथ तक न लगाने वाला प्रेमी ही प्रेम की दिव्यता का अनुभव करता है—

(क) सिनान करिवि, नीर ना छुइवि, भाविनी भावेर देहा ॥

(ख) एकत्र थाकिब, नाहि परशिब, भाविनी भावेर देहा ॥

अतः जो राधा और श्याम क्षणभर भी वियोग सहन नहीं करते उनके

मिलन को देखकर आपको आश्चर्य होगा, मिलते ही वे एक दूसरे से लिपट नहीं जाते प्रत्युत एक दूसरे के सामने परन्तु एक दूसरे से कुछ दूर पर बैठ जाते हैं और आँखों से अश्रु बहाने लगते हैं! कितनी परवशता है। समाज की आँखों में हमारा यह दिव्य प्रेम भी खटकता है और इसलिए हमारा यह मिलन कितना अल्पकालीन है, कितना अनिश्चित है!! न जाने कौनसा अभागा क्षण हमको सदा के लिए एक दूसरे से अलग कर सकता है। सेवाज कवि की सखी ने राधा को यही सीख दी कि कलंक ही लग गया तब पवित्रता के सिर पर लदनने रहना कोई बुद्धिमानी नहीं है, अब निश्शंक आलिंगन करके उसकी ज्वाला को भी विराम का अवसर देना चाहिए—

> कौन संकोच रह्यो है सेवाज जो तू तरसै उनहूँ तरसावति।
> बावरि जो पै कलंक लग्यो तब क्यों न निसंक ह्वै अंक लगावति॥

इसलिए चण्डीदास का प्रेम अपूर्व है, अद्वितीय है, समाज या प्रकृति में कहीं भी उसकी तुलना नहीं मिलती; यह दो प्राणों का अटूट बन्धन है, जहाँ भावी विच्छेद की आशंका के ही कारण वर्तमान उपलब्ध संयोग का उपभोग वर्जित है—

> एमन पीरिति कभु नाहि देखि शुनि।
> पराने पराने बाँधि आपना-आपनि॥
> दुहुँ कोड़े दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया।
> आध तिल ना देखिले जाय जे मरिया॥
> जल बिनु मीन जेन कबहुँ न जीये।
> मानुषे एमन प्रेम कोथा ना शुनिये॥
> भानु कमल बलि—सेहो हेन नय।
> हिमे कमल मरे, भानु सुखे रय॥
> चातक जलद कहि—से नेह तुलना।
> समय नहिले से न देय एक कणा॥
> कुसुमे मधुप कहि—सेहो नहे तूल।
> ना आइले भ्रमर आपनि ना जाय फूल॥
> कि छार चकोर चाँद—दुहुँ सम नहे।
> त्रिभुवने हेन नाहि चण्डीदास कहे॥

प्रेम-विह्वला राधा प्रीतियोगिनी है, अपने प्रिय को प्राप्त करने के लिए उसने प्रीति का ही एक संसार बसा लिया[1] और उस बन्धु के लिए वह पागलिनी योगिनी बनकर वन-वन में घूमती फिरी, प्रीति का ही उसने मंत्र जपा और साधना प्रारम्भ कर दी। लोग हँसते हैं, हँसते रहें; जाति-कुल जाता हो, तो

---

१. पीरिति नगरे बसति करिब, पिरीते बाँधिब घर।
   पीरिति देखिया पड़शि करिब, ता बिनु सकलि पर॥

चला जावे; परन्तु बन्धु मिल सके। तुमको प्राप्त करके हम सब कुछ फिर से बना सकते हैं, समाज में प्रतिष्ठा भी फिर हो जायेगी, पराये भी फिर अपने हो जावेंगे; फिर अगर तुम्हीं न रहे तो समाज, और सुख-वैभव से क्या लाभ—

लोक हासि हउ, जाय जाति जाउ, तबुना छाड़िया दिब।
तुमि गेले यदि, गुन गुणनिधि, आर कोथा तुया पाव॥

निर्मम समाज से तंग आकर एक बार राधा ने सोचा कि 'बाहिरे अनल' और 'अन्तर ताप' से कब तक झुलसती रहूँ, इस असफल जीवन से किसी प्रकार तो निस्तार मिले। वह समाज के ठेकेदारों पर बरस पड़ी—तुम लोग अपने-अपने घर जाओ, आज से राधा के कलंक की चर्चा न हुआ करेगी, मैं यमुना के किनारे आग में जल मरती हूँ—

तोमरा चलिया जाउ आपनार घरे।
मरिव अनले आमि यमुनार तीरे॥

परन्तु तत्काल ही उसके अन्तःकरण ने उसको सावधान कर लिया, यदि शरीर ही छोड़ दिया तो प्रीति की साधना किस प्रकार होगी:—

चंडीदास बले केन कह हेन कथा।
शरीर छाड़िले प्रीति रहिबेक कोथा॥

चण्डीदास में प्रीति के दो पक्ष हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल या सामाजिक पक्ष में राधा की प्रीति संस्कारजन्य उस स्नेह का नाम है जो अनेक बाधा, विरोधों और तिरस्कारों को सहता हुआ भी सहर्ष आत्म-समर्पण कर देता है। राधा और श्याम दोनों के मन में समान उल्लास है, फिर भी राधा में करुणा अधिक है—नारी प्रीति कम ही करती है परन्तु यदि करने लगती है तो फिर अपने को सम्हालना उसके लिए सम्भव नहीं, पुरुष प्रायः फिसल जाता है परन्तु एक बार प्रवंचित होकर वह पुनर्वार उस मार्ग से हट जाता है। साहित्य और समाज में इसीलिए विज्ञापन सदा नारी ने ही की है पुरुष ने सब कुछ चुपचाप सहा है—वह जानता है कि उसके प्रति न तो प्रतिद्वन्द्वी पुरुष को सहानुभूति होगी और न आतिभक्त नारी को। चण्डीदास की राधा ने भी श्याम के प्रेम को 'गरल'[1] और श्याम को 'विषकुम्भम्'[2] पयोमुखम् कह दिया है, परन्तु वह सामान्य नारी से बहुत उच्च है इसलिए उसने दोष किसी अज्ञात शक्ति को अधिक दिया है अपने बन्धु को कम—अपने प्राणबन्धु से तो वह अपने पुनर्जन्म के लिए क्षमा[3] की भीख लेती है। इस प्रीति का वियोग पक्ष जितना शान्त है, संयोग पक्ष

---

१. कोथा वे आइल पिरीति हइल, एमति बाढुर मेह।
२. तोमार गागरी बैन विष भरि, दुधेते भरिया मुख।
३. बन्धुया अनेर, दोष ना भाइबे, छिले बन हये दोष।
तुमि दया करि, कृपा ना छाड़िह, मोरे ना छाड़िह दोष॥

कर संसार का उपभोग करता है परन्तु प्रीति-साधना में उपभोग के लिए कोई स्थान नहीं; सूफी का प्रिय ईश्वर की झलक है परन्तु प्रीतिसाधक का प्रिय उसी के समान है, "ना हइवि सती, ना हवि असति"। इसलिए इस प्रेम का सामाजिक पक्ष भी है और आध्यात्मिक भी। यह प्रेम-साधना प्रिय को देवता और देवता को प्रिय बनाकर भी दोनों के व्यक्तित्वों को सुरक्षित रखती है, इसीलिए यह सहज है, सर्वसुलभ है। इसके लिए एक ही शर्त है मर्मस्थल पर 'पीरित' के तीन अक्षरों को जन्म-जन्मान्तर के लिए अंकित करा लेना यह भी प्रयत्न साध्य नहीं, संस्कार-जन्य है। वैष्णव काव्य पर विचार करते हुए कविवर रवीन्द्र ने 'देवता को प्रिय और प्रिय को देवता' बनाने वाली इस साधना की भूरि-भूरि प्रशंसा की है:—

देवतारे याहा दिते पारि, दिइ ताइ
प्रियजने,—प्रियजने याहा दिते पाइ
ताइ दिइ देवतारे; आर पाबो कोथा ?
देवतारे प्रिय करि, प्रियेरे देवता॥

## ४ | विद्यापति की राधा

इस बात पर विचार न करते हुए कि विद्यापति के पदों का भक्ति से कुछ सम्बन्ध है अथवा नहीं, यदि हम उनकी राधा को सामान्य नायिका के रूप में ही देखें तो उसके जीवन में नीरव पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। नायिका-भेद की प्रथा के अनुसार राधा के भी अनेक रूप हैं जिनमें से विद्यापति को उस राधा में अधिक रुचि है जो समाज के बन्धनों को तोड़ती हुई प्रेम की कसौटी पर कसकर कर्त्तंव्याकर्त्तव्य का निर्णय करती है; अर्थात् वह स्वकीया की अपेक्षा परकीया अधिक है, प्रौढ़ा की अपेक्षा मुग्धा अधिक है, और खंडिता की अपेक्षा अभिसारिका अधिक है। यदि एक सामाजिक दृष्टिकोण से राधा के इस व्यक्तित्व का अध्ययन किया जावे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यौवन की प्रथम उमंग में कुछ फुसलाने वाली स्त्रियों के फेर में पड़कर, किसी लम्पट से गुप्त प्रेम करने वाली, इस वर्ग की स्त्रियाँ अपने को अनायास ही मिटा देती हैं और आजन्म अपने अपकर्म का फल भोगती रहती हैं :—

> कुलकामिनि छलौं, कुलटा भए गेलौं, तिनकर बचन लोभाई।
> अपने कर हम मूड़ मुड़ाएल, कानु से प्रेम बढ़ाई॥

राधा रूप-सौन्दर्य में तो अद्वितीय थी ही यौवन की रमणीय किरणों से वह और भी निखर उठी; और सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य, उसको इस बात का पता भी था कि वह रूप तथा यौवन में अभूतपूर्वा है, इसलिए वह अपनी इस सम्पत्ति से संसार को नीचा दिखाना चाहती थी। यही उसकी भूल थी। उसके इस मन्तव्य को कुट्टिनियों ने ताड़ लिया और उसको एक अच्छा शिकार समझ कर उसकी मित्र बन गईं। शनैः-शनैः दूती ने राधा के ऊपर हाथ रखा और उसको यह बतलाया कि 'कान्ह' नाम का व्यक्ति उसके रूप-सौन्दर्य का भक्त होता जा रहा है। राधा को मन में बड़ा हर्ष हुआ, वह उस 'सनी' पर बिकी नहीं, प्रत्युत 'मन-मन भावै, सीस हिलावै' वाली कहावत को चरितार्थ करती हुई उस दूती से हँसकर बोली—

गोकुल नगर कान्हु रति लंपट, जौवन सहज हमारा।
तुहु सखि रभसि मोहे जनि बोलबि, लोक करब पतियारा ॥

दूती को विश्वास हो गया कि राधा को अपने 'सहज यौवन' का गर्व है, वह कान्ह को 'रति-लंपट' भी जानती है, और उसे इस राधा-कान्ह-सम्बन्ध में अस्वाभाविकता भी नहीं जान पड़ती (लोक करब पतियारा)। राधा ने कान्ह की बुराई अवश्य की परन्तु उसकी महत्ता और उसके पात्रत्व को स्वीकार करते हुए।

दूती को प्रथम पदन्यास में सफलता मिली। उसने राधा के रूप की भरसक प्रशंसा की और कान्ह के पात्रत्व की उस बात को जो राधा के मन में अभी कच्ची ही थी, ठोक-पीटकर पक्का कर दिया ; 'इसे तुम अपना सौभाग्य ही समझो, राधा, कि जिस कान्ह को प्राप्त करने के लिए संसार की सुन्दरियाँ लड़पती रहती हैं वही कान्ह तुम्हारे प्रेम में विभोर हैं'—

धनि धनि रमनि जनम धनि तोर।
सब जन कान्हु कान्हु करि झूरए, से तुअ भाव विभोर।

राधा कुलकामिनी थी इसलिए उसके मन में द्वन्द्व चलने लगा, एक ओर कान्ह जैसे पारखी की प्रेम-याचना थी, दूसरी ओर कुल धर्म; फिर वह चोरी; और कान्ह ने स्नेह का निर्वाह न किया तो ? राधा कुछ निश्चय न कर सकी। दूती इस अवसर को कब हाथ से जाने दे सकती थी ? उसने राधा को समझाया कि संसार में सार एक ही वस्तु है, और वह है 'यावज्जीवन स्नेह', उसका श्रीगणेश 'कुछ क्षणों के संगम' से ही होता है—

एहि संसार सार वथु एक।
तिला एक संगम, जाव जिव नेह ॥

और कुलधर्म ? वह तो कच्चा काँच है, जिसमें दिखावा तो है परन्तु मूल्य कुछ भी नहीं; क्यों न कामदेव रूपी दलाल की कृपा से इस तुच्छ वस्तु के बदले में एक अमूल्य वस्तु यावज्जीवन स्नेह प्राप्त करली जावे :—

कुलवति धरम, काँच समतूल।
मदन-दलाल मेल अनुकूल ॥

रही चोरी की बात, वही तो स्नेह का स्रोत है, यदि चोरी न हो तो फिर वह प्रेम भी तो एक साधारण व्यवहार हो गया, उसमें स्नेह कहाँ रहा—

अधिक चोरी, पर-सर्यं करिअ,
एहि सनेह क सोत।

तुम सोचती होगी कि विपत्तियों के आने पर कान्ह से प्रेम का निर्वाह हो सकेगा अथवा नहीं, यह सोचना तुम्हारी भूल है। सुजन तथा कुजन के प्रेम में यही अन्तर है। सुजन का प्रेम स्वर्ण के समान होता है जिसको जितना ही गरम किया जावे उतना ही वह बढ़ता जाता है—

प्रेम क गति दुरवार।
नविन जौबन धनि, चरन कमल जिनि,
तइओ कएल अभिसार।
कुल-गुन-गौरव सति-जस-अपजस,
तृन करि, न मानए राधे,
मन मधि मदन महोदधि उछलल,
बूड़ल कुल-मरजादे॥

कुछ ही दिनों में हम राधा को 'केलि-कलावती' के रूप में देखते है;
नो अपने जीवन का स्वर्ग पा गई, उसका यौवन सफल हो गया—

सुखद सेजोपरि नागरि-नागर बइसल नव रति-साधे।
प्रति अंग चुम्बन, रस अनुमोदन, थर-थर काँपए राधे॥

परन्तु यह सुखभोग कितने दिन चल सकता था? कान्ह तो "रति-लंपट"
, जब तक राधा का रूप-यौवन रहा (वह भी कुछ ही दिन तक रह सकता
ान्ह ने राधा को आदर दिया—

जौवन-रूप अछल दिन चारि।
से देखि आदर[1] कएल मुरारि॥

परन्तु फिर वह राधा के पास आने भी नहीं लगा। कितनी दु:खद परि-
है कि दोनों एक ही नगर में रहते थे और राधा उससे मिलने भी जाती
तु वह निष्ठुर कभी भेंट ही न करता था। अभागिनी कर ही क्या सकती
ों में अश्रु आते हैं परन्तु उनको छिपाना पड़ता है; जो प्रेम गुप्त है उसका
प भी गुप्त रूप से ही करना पड़ेगा; अभागी राधा संसार के सो जाने
रात्रि में फूट-फूटकर रोती रहती है—

जामिनि आध अधिक जब होइ।
बिगलित लाज उठए तब रोइ॥

अन्त में वह रोदन भी छिपा न रह सका, नेत्रों से नीर बहना बढ़ता ही
में क्षीणता आती गई, शरीर जर्जर हो गया, दीना राधा चलने-फिरने
समर्थ हो गई। यही उनके रूप-यौवन का अन्त होना था—

तनु भेल जरजर, भामिनी अन्तर
चित बाढ़ल तसु प्रीत।
नयन क नीर थीर नहि बाँधइ
पंक कएल महि रोइ।
अवनि उपर धनि उठए न पारइ
चएलि भुजा धरि दीना॥

अब वह 'सखी' भी दिखलाई नहीं पड़ती। राधा के आँसू और कौन

[1] (सं.)—प्रेम; आदर (सं.)—सम्मान।

पीछे पड़ता है। राधा सोचती थी 'सखी' को बुरा-भला कहेगी परन्तु एक दिन वह दूती जब उसको मिली तो राधा उसको दोष न दे सकी। क्या पता दूती बात को और भी बढ़ा दे और राधा का संसार को कुछ भी छिपाना कठिन हो जावे। उसके मन ने न माना तो राधा ने एक दिन दूती से कहा 'मैंने तेरे कहने पर मधुर के भ्रम में विष-पान किया है,' परन्तु साथ ही उसने अपनी भूल भी स्वीकार की—'यह विषपान मैंने आँखों देखते ही किया था—

सोहर बचन सखि, कएल आँखि देखि,
अमिय भरम विष-पाने ॥

अथवा तुम्हारा इसमें क्या दोष ? प्रेम का अन्त ही बुरा होता है। मैं पहिले न समझी थी कि जो लोग मधु के समान मीठे वचन बोलते हैं उनका हृदय वज्र के समान कठोर भी हो सकता है। इसलिए मैंने अपने को एक कुपात्र के हाथ में सौंपकर अपने गर्व को मिट्टी में मिला दिया। वस्तुतः प्रेम का परिणाम ही दुःखद है—

मधु सम बचन, कुलिस सम मानस
प्रथमहिं जानि न भेला।
अपन चतुरपन पिसुन हाथ देल
गरब गरब दुर गेला॥
सखि, हे मन्द प्रेम परिनामा॥

दूती ने कान्ह से भी कुछ कहा या नहीं, और राधा के प्रेम-विच्छेद में दूती का अधिक दोष है या कान्ह का—इन समस्याओं पर विचार करना व्यर्थ है। क्योंकि जहाँ तक दूती का सम्बन्ध है उसका तो व्यवसाय ही राधा जैसी रूप-यौवन-गर्विणी मुग्धाओं को फँसाना है, और कान्ह 'रति-लंपट' था ही इसे राधा भी जानती थी। परन्तु ध्यान इस बात पर जाता है कि स्त्री-पुरुष में से कोई भी धोखा दे, उसका कुफल स्त्री को ही भोगना पड़ता है। कारण कुछ-कुछ प्राकृतिक है, प्रकृति ने नारी को जितना कोमल और जितना आकर्षक बनाया है उतनी ही वह असहाय भी है, समर्पण उसकी निवृत्ति है और मौन-रोदन उसका बल। दूसरी ओर पुरुष स्वभावतः ही स्वच्छन्द है, वह जो कुछ करता है अपने बल पर करता है और पश्चात्ताप उसका स्वभाव नहीं, उसके निकट भावुकता को स्थान नहीं, वह शक्तिजीवी है। पुरुष के ऊपर यदि कोई बन्धन सफल हो सकता है तो वह समाज का ही बन्धन है क्योंकि उसको उसी के समान अनेक पुरुषों ने बनाया है, इसलिए उसमें उस अकेले की शक्ति की अपेक्षा अधिक बल है।

महाकवि कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक में शकुन्तला के दुर्भाग्य का चित्र अंकित करके यह बतलाया है कि गुप्तप्रेम में सदा एक आशंका रहती है। इसलिए परीक्षा के बिना कोई भी रमणी किसी पुरुष से इस प्रकार का प्रेम न करे—

अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं, विशेषात्संगतं रहः ।
अज्ञातहृदयेष्वेवं, वैरीभवति सौहृदम् ॥

विद्यापति ने भी राधा का असफल प्रेम अवसादान्त दिखलाकर मानो नारी-जगत् को चेतावनी दी है कि समाज के बन्धनों की उपेक्षा करके गुप्त प्रेम मत करो अन्यथा सारा जीवन राधा के समान रो-रो कर ही काटना पड़ेगा। महाकवियों की वाणी उपेक्षित चली आती है और आज भी केवल अपने ही अनुभव से सीखने को उद्यत ललनाओं का करुण क्रन्दन मूक स्वर में तड़प-तड़प कर कहता हुआ सुनाई पड़ता है—

कबहु रसिक संग दरसन होए जनु, दरसन होए जनु नेह।
नेह विछोह जनु काहुक उपजए, विछोह धरए जनु देह॥
सजनी, दुर कर ओ परसंग।
पहलहि उपजइत, प्रेमक अंकुर दारुन विधि देल भंग॥
दैवक दोष प्रेम जदि उपजए, रसिक संग जनु होय।
कान्हु से गुपुत नेह करि अब एक, सबहु सिलाओल मोय॥

---

# ५ | सिंहलद्वीप

'सिंहल' शब्द के सुनते ही हमारा ध्यान उस द्वीप की ओर जाता है जिसको 'लंका' भी कहते हैं। प्राचीन काल में इसको 'ताम्रपर्णी' कहते थे।[१] 'महावंश' में लिखा है कि राजकुमार विजय और उनके साथी जब प्रथमबार उस द्वीप पर पहुँचे तो थकावट के कारण वे पृथ्वी पर हाथ टेक कर बैठ गये, *मिट्टी ताम्रवर्ण की थी, उसके स्पर्श से उनकी हथेलियाँ ताम्रवर्ण सी (ताँबे के पत्र जैसे रंग वाली) हो गईं*; इसीलिए उस द्वीप का नाम ताम्रपर्णी[२] पड़ गया। 'सिंहल' नाम उस द्वीप के किसी गुण पर आश्रित न होकर उस वंश के नाम पर है जिसने पहले-पहले उस द्वीप की खोज की, कदाचित् जम्बुद्वीपवासी उसको 'सिंहल' कहते थे, और उपनिवेश बसाने वाले ये निवासी उसको 'ताम्रपर्णी'। राजकुमार विजय का वंश 'सिंहल' कहलाता था, क्योंकि वंगराज की आज्ञा से विजय के पिता सिंहबाहु प्रजा में आतंक उत्पन्न करने वाले अपने पिता सिंह को मार कर ले आये थे (सिंह+ल=सिंहल)।[३] अस्तु 'ताम्रपर्णी' का नाम 'सिंहल' हो गया। इसके कुछ भाग 'ओजद्वीप' 'मुण्डद्वीप' तथा 'नागद्वीप' भी कहलाते थे।[४] इसके निवासी यक्ष तथा नाग बतलाये गये हैं।[५] वैभव तथा विलास का यह केन्द्र था; अनेक साहसी नवयुवक वहाँ जाकर रूपवती स्त्रियों तथा असंख्य रत्नों के स्वामी बन जाते थे, दलपति का विवाह तो उस पर मोहित होने वाली यक्षिणी के साथ होता था परन्तु उसके साथियों को भी अपने-अपने पद के अनुरूप दूसरी यक्षिणियाँ मिल जाती थीं। राजकुमार पाण्डु वासुदेव संन्यासी के वेश में नाव द्वारा सिंहल पहुँचा था, और अपना पराक्रम दिखलाने

---

१. डा० भाण्डारकर : लेक्चर्स ऑन दि एनशेंट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ७

२. महावंश, सप्तम परिच्छेद, छंद ४१

३. वही, ६/३२-३३ तथा ७/४२

४. महावंश १५/५६, १५/१२७, १/४७ तथा २०/१५

५. वही १/२१-२२ तथा १/८४

के कारण उसका विवाह उस भद्र कात्यायिनी के साथ हो गया, जिसके लिए संसार के सभी लोग इच्छुक थे (महावंश, अष्टम परिच्छेद)। इस प्रकार की कथा में पद्मावत की कथा का आधार खोजा जा सकता है। पद्मावती का पिता कम से कम नाम से (अक्ष न सही) "गन्धर्व" सेन था, उसके विलास तथा वैभव की क्या सीमा, पद्मावती के रूप पर तीनों लोकों के मधुप मँडराते थे, अन्त में जम्बुद्वीप का एक राजकुमार सन्यासी बन, नाव में बैठ, वहाँ पहुँचा और अपना साहस दिखला कर उस विश्वसुन्दरी का पाणिग्रहण कर सका।

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने पद्मावती के रूप-सौंदर्य की वर्तमान सिंहलिनियों के रूप से तुलना करने पर यह निश्चय किया है कि जायसी का 'सिंहल' ऐतिहासिक सिंहल अर्थात् लंका न होकर राजपूताने या गुजरात का कोई स्थान होगा।[1] जायसी ने स्वयं भी 'सिंहल' को 'लंका' से भिन्न कोई द्वीप माना है, सात द्वीपों के नाम गिनाते समय सिंहल और लंका का अलग-अलग उल्लेख किया है, और सिंहल के राजा की लंका के राजा से तथा सिंहलनगर की लंका-नगर से सर्वत्र तुलना की है—

लंकदीप कै सिला अनाई। बाँधा सरवर घाट बनाई॥ (पृ० १२)
लंका चाहि ऊँच गढ़-ताका। निरखि न जाइ, दीठि तन थाका॥ (पृ० १५)
लंका सुना जो रावन राजू। तेहु चाहि बड़ ताकर साजू॥ (पृ० १०)
और खजहजा अनबन नाऊ। देखा सब राउन-अमराऊ॥ (पृ० ११)

जायसी ने जो सात द्वीप गिनाये हैं उनका ऐतिहासिक या भौगोलिक महत्व है या नहीं, यह विचार नहीं करता, परन्तु यह निश्चय है कि इन नामों की जनता में काफी प्रसिद्धि रही होगी, 'कपक' इसीलिए इसका उल्टा-सीधा प्रयोग कर लिया करते थे। 'महावंश' के आधार पर इतिहासवेत्ताओं ने उन स्थानों की चर्चा की है जहाँ अशोक के समय में धर्म प्रचार के लिए स्थविर भेजे गए थे (महावंश, द्वादश परिच्छेद), जम्बुद्वीप के 'प्रत्यन्त' सात देशों (अथवा द्वीपों) की सूची दी गई है। डा० लहा के अनुसार[2] यह प्रचार-क्षेत्र उत्तर में गांधार, दक्षिण में सीलोन, पश्चिम में पश्चिमी समुद्र तट तथा पूर्व में लोअर बरमा तक फैला हुआ था। गिनाये गये स्थानों[3] में से कुछ स्थानों के नाम जायसी के द्वीपों से मिलते हैं, जैसे सरनदीप[4] और स्वर्णभूमि, लंकदीप और लंका द्वीप,

---

१. जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, ऐतिहासिक आधार, पृ० २१
२. डा० लहा : ज्योग्राफी आफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ६०
३. डाक्टर बी० जी० गोखले : बुद्धिज्म एण्ड अशोक, पृ० ७३
४. शुक्ल जी ने लंका और सरनदीप को अलग-अलग मानने पर आपत्ति की है जो अनुचित है, बौद्ध इतिहास में भी इनको अलग-अलग माना गया है। (दे० जायसी ग्रन्थावली, सिंहलद्वीप-वर्णनखण्ड, फुटनोट १)।

गमस्थल और गान्धार, दीप महिस्थल (या महुस्थल) और महिष्मण्डल—सरन-दीप तो स्वर्णद्वीप या स्वर्णभूमि प्रसिद्ध है ही,[1] गमस्थल गान्धार ही हो सकता है, और महिस्थल को नर्मदा का दक्षिणवर्ती प्रदेश महिष्मण्डल ही मानना पड़ेगा; इसको इतिहास के इस मत का भी समर्थन प्राप्त है कि अशोक के राज्यकाल में बौद्धमत उत्तर भारत में भली भाँति दृढ़ होकर पूर्व देश तथा दक्षिण देश में प्रवेश कर रहा था[2]। अब जायसी द्वारा गिनाये गये तीन द्वीप और रह गये—जम्बूद्वीप, सिंहलद्वीप, और दियाद्वीप; 'जम्बुद्वीप' के विषय में मतभेद को कोई स्थान नहीं है, 'सिंहलद्वीप' पर हम विचार कर रहे हैं; 'दियाद्वीप' बच जाता है, इसकी स्थिति पश्चिमी समुद्र तट पर माननी पड़ेगी क्योंकि पश्चिम ही एक ऐसी दिशा बच गई जिसका कोई स्थान शेष ६ द्वीपों में नहीं आ पाया है—जब तक कोई विद्वान् इस पर विशेष प्रकाश न डाले तब तक हम 'दियाद्वीप' को पश्चिमी समुद्र तट का द्वारका मान लेते हैं; बंगाली कवियों ने अपने मंगल काव्यों में पश्चिमी तट के लिए समुद्र यात्रा करने वाले वणिकों का उल्लेख किया है, और कवि कंकण ने अपने चंडीकाव्य में अन्य मुख्य स्थानों के साथ द्वारका की भी सगौरव चर्चा की है।

*सिंहल को पहिचानने से पूर्व ऊपर के विवेचन से परिलक्षित दो निष्कर्षों* को ध्यान में रखना आवश्यक है—प्रथम यह कि लोक-कथाओं में 'द्वीप' शब्द का अर्थ 'समुद्र के बीच में निकला हुआ स्थल'[3] नहीं है, प्रत्युत किसी भी भूभाग को 'द्वीप' कहा जा सकता है—भूखण्ड, देश, प्रदेश, नगर तथा द्वीप शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। द्वितीय यह कि जम्बुद्वीप के दक्षिण तथा पूर्व में भारतीयों के जो उपनिवेश बसे थे उनमें भारतीय संस्कृति की इतनी अधिक छाप थी कि मुख्य-मुख्य नगरों तथा नदियों के सारे नाम भारत के ही रख दिए गये थे,—डा० भाण्डारकर ने चार मथुरा नगरों का उल्लेख किया है[4]; ब्रह्म देश में दूसरा भारत बसाने का तो सफल प्रयत्न हुआ ही, बौद्ध मत के भारत-बाह्य स्थानों की भी ज्यों की त्यों आवृत्ति हो गई[5]। यदि भारत के वासुदेव कृष्ण का सारा जीवन सिंहलराज पाण्डुवासुदेव के दौहित्र पाण्डुकाभय के जीवन में प्रतिबिंबित मिलता है (दे० महावंश, नवम परिच्छेद), तो सिंहल के कैलास आदि बिहार तथा अनुराधपुर आदि नाम भी ब्रह्मदेश में पाये जाते हैं।

अशोक के जीवन-काल में तिष्य स्थविर द्वारा नियोजित तृतीय 'धर्म-

---

१. महावंश, द्वादश परिच्छेद, फुटनोट १।
२. डा० बी० जी गोखले : बुद्धिज्म एण्ड अशोक, पृ० ७२
३. द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्। (अमरकोशः)
४. डा० भाण्डारकर : लेक्चर्स ऑन दि एन्शेंट हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० १३
५. डाक्टर आर० सी० मजुमदार : हिन्दु कोलोनीज इन दी फार ईस्ट, पृष्ठ २२१ तथा २१६

संगति' भारत में बौद्धमत की अंतिम सभा थी, इसके उपरान्त उत्तर से धीरे-धीरे बौद्ध मत का लोप होने लगा, साथ ही उसका लंका में उतना ही प्रभाव बढ़ने लगा। लंका का धर्म अधिक कट्टर था, भारत में जहाँ महायान को अधिक आश्रय मिला वहाँ लंका में हीनयान को; और पूर्व के देशों में लंका का प्रभाव अधिक था परन्तु उत्तर-पूर्व के देशों में भारत का। जब लंका में भी धर्म का झण्डा लड़खड़ाने लगा तो उसका एकमात्र गढ़ सुदूर पूर्व का ब्रह्मदेश ही बन गया—जो उत्साह एक समय जम्बूद्वीप में था, फिर किसी समय सिंहल में रहा, वह अब ब्रह्मदेश में अपना फल दिखाने लगा। सातवीं शताब्दी से ही ऐसे प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं जिनके अनुसार जम्बूद्वीप तथा लंकाद्वीप के बौद्ध विद्वान् विशेष अध्ययन के लिए ब्रह्मदेश जाते थे। सातवीं शताब्दी में नालंदा के अध्यापक काञ्चीवासी धर्मपाल तथा ग्यारहवीं शताब्दी में बंगाल के अतीश दीपांकर बौद्ध मत के विशेष अध्ययन के लिए इन पूर्व देशों में गये थे[1], अरिमर्दनपुर के राजा अनिरुद्ध[2] (मृत्यु १०७७ ई०) के शासन को तो स्वर्ण युग कहा जा सकता है। इधर भारत में ब्राह्मण धर्म फिर से जाग उठा था, और शिक्षित समाज बौद्धमत को छोड़ चुका था, छठवीं शताब्दी से ही वेद-शास्त्रों की दुहाई दी जाने लगी थी[3] बौद्धमत या तो कुछ विहारों में बन्द रह गया या निम्नस्तर की जनता में बिखरा हुआ। यह जनता धर्म का केन्द्र आज भी भारत के बाहर किसी द्वीप को जानती थी, और श्रुति-परम्परा से उस द्वीप का नाम इस जनता में 'सिंहल' था। लोक-साहित्य में सिंहलद्वीप इसी अर्थ में आया है, हिन्दी तथा बंगाली की अधिकतर लोक-कथाएँ सिंहल के बिना चलती ही नहीं। यहाँ तक कि रामकथा में भी बंगालियों ने दशरथ का विवाह[4] सिंहलराज की पुत्री से करा दिया है। इस प्रकार यह निश्चय है कि जायसी का धर्मद्वीप प्राचीन सिंहल (लंका) न होकर नवीन सिंहल या सिंहलाभास (ब्रह्मदेश का कोई भाग) है।

पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने सिंहल की स्थिति राजपूताने या गुजरात में मानी है, बंगाल के विद्वान ने भी दशरथ की ससुराल वाला सिंहल[5] लगभग वैसा ही कोई स्थान बतलाया है, तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार सिंहलदेश

---

१. डाक्टर आर० सी० मजुमदार : ग्रेटर इण्डिया, पृ० ५६—५७
   डाक्टर आर० सी मजुमदार : हिन्दू कोलोनीज इन दि फार ईस्ट, पृ० ८५
२. डा० मजुमदार : हिन्दु कोलोनीज०, पृ० २१०—२११
३. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म साधना, पृ० ६—१०
४. श्री कालिदास राय : प्राचीन बंग-साहित्य, कृत्तिवास, पृ० ६४
५. वही—

बांगाली कवि सिंहल-राजकन्यार संगे दशरथेर विवाह दिया सिंहल आर लंका एक नय तहाइ बलियाछेन। एइ सिंहल भारतेर मध्येइ एकटा प्रदेश, मृगया करिते करिते सेखाने पौंछानो जाय।

या त्रिपादेश हिमालय के चरणों में स्थित नागों का कोई प्रसिद्ध परीक्षा-स्थान है।[1] परन्तु जायसी का सिंहलद्वीप इन तीनों स्थानों में से एक भी नहीं है, उस तक पहुँचने के लिए समुद्र-यात्रा तो करनी ही पड़ेगी, बंगीय लोक-कहानियों में भी समुद्री मार्ग से ही सिंहल पहुँचा जाता है।

जायसी ने जम्बुद्वीप से सिंहलद्वीप पहुँचने का समुद्री मार्ग बतला दिया है। दण्डकारण्य से दो मार्ग सामने आते हैं—एक सिंहल जाने वाला और दूसरा लंका के पास पहुँचाने वाला। लंका वाले मार्ग को एक ओर छोड़कर उड़ीसा में समुद्र-तट पर जा निकलते हैं।[2] बंगाली कवि वंशीदास के अनुसार सिंहल जाते समय एक ओर कलिंग और उत्कल देश रह जाते हैं, दूसरी ओर दक्षिण का सेतुबन्ध रामेश्वर, और कनकलंका सामने दिखलाई पड़ती है[3]। कविकंकण मुकुन्दराम के अनुसार सेतुबन्ध को एक ओर छोड़कर जब धनपति ने दूर से लंका के प्रासादों को देखा तो पूछा कि सिंहल कितनी दूर है ? फिर रात्रि-दिन चलते रहने के उपरान्त वे कालीदह (गंभीर सागर) को पार करके सिंहल नगर के निकट आ गये[4]। रत्नसेन के लौटने का भी जायसी ने ऐसा ही वर्णन किया है—

> आधे समुद ते आये नाहीं। उठी बाउ आँधी उतराहीं॥
> बोहित चले जो चितउर ताके। भये कुपंथ, लंक दिसि हाँके।
> महिरावन कै रीड़ जो परी। कहहु सो सेतु-बंध बुधि हरी॥
> (देश यात्रा खंड)

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय, (पृ० ५५ तथा १६७)

२. परे आइ बन परबत माहाँ। दंडाकरन बीझ-बन जाहाँ॥
एक बाट गइ सिंघल, दूसरि लंक समीप॥
आगे पाव उड़ैसा, बाएँ दिसि सो बाट।
दहिनावरत देइ कै उतरु समुद के घाट॥ (जोगी खंड)

३. कलिंग उत्कल देश डाइने थुइया।
सेतुबंध रामेश्वर राखिया दक्षिणे॥
सम्मुखे कनक लंका देखे ततक्षणे॥ (मनसा मंगल)

४. सेतुबंध सदागर पश्चात् करिया।
दूर हैते देखे साधु लंकार मयाल।
अलंघ्य सागर डानि वामे नाहि स्थल॥
पथिक जिज्ञासे कत योजन सिंहल ?
रात्रि दिन चले साधु तिलेक नाहि रहे।
उपनीत धनपति हैता काली दहे।
वाह वाह बलिया डाकेन सदागर।
निकट हइल राज्य सिंहल नगर। (चंडीकाव्य)

जगन्नाथ कहँ देखा भाई। भोजन रींधा भात बिकाई॥
(लक्ष्मी समुद्र खंड)

इन वर्णनों से यह स्पष्ट है कि—

(१) समुद्र यात्रा के लिए उड़ीसा में पुरी[1] का बन्दरगाह एक सामान्य स्थान था, (२) सेतुबन्ध तथा लंका को दूर से देखकर मार्ग का अनुमान लगाया जाता था, (३) पूर्वी समुद्र तट में जिस ओर लंका है उससे दूसरी ओर सिंहल का मार्ग है, (४) तथा जहाँ से लंका दिखाई पड़ती है वहाँ से सिंहल आधी से कम दूर रह जाता है —जाने वाले के मन में धैर्य बँध जाता है कि अब कुछ ही दिनों की और बात है।

इस प्रकार सिंहल दक्षिणी ब्रह्मदेश का कोई समुद्रतटवर्ती प्रसिद्ध स्थान है; बंगीय कवियों ने जिसको अपनी कविता में 'पूर्व देश' कहा है, और बंगीय विद्वानों ने जिसको बौद्ध मत का केन्द्र 'निम्नब्रह्म' माना है[2]। इतिहास यह बतलाता है कि उत्तर ब्रह्मदेश की अपेक्षा दक्षिण ब्रह्मदेश में भारतीयों का आना-जाना अधिक था, और वे समुद्री मार्ग से ही जाते थे।[3]

स्वर्णद्वीप या स्वर्णभूमि नामों का प्रयोग बड़े अनिश्चित अर्थ में होता था, सुदूर पूर्व के सभी देशों के लिए भी इन नामों का व्यवहार था तथा प्रदेश-विशेष या विशेष प्रदेशों के लिए भी। संभव है जावा को कभी यह नाम मिला हो, क्योंकि एक समय इसका राजनीतिक प्रभाव सर्वत्र था, यह पहले हीनयान तथा फिर महायान का केन्द्र बन गया था, सुमेरु पर्वत यहीं खोजा जा सकता है तथा १३ वीं शती में यहाँ का सिंहसारि राज्य बड़ा शक्तिशाली था।[4] तब सिंहल की खोज में ह्वे नसांग द्वारा दिये मोन राज्य के सीमा-प्रदेशों का आश्रय लेते हैं, दिये गये ६ नामों में से प्रथम को आजकल श्रीक्षेत्र समझा जाता है[5], यह दक्षिण ब्रह्मदेश की समुद्र तटवर्ती प्रसिद्ध राजधानी थी, जिसमें पहले हिन्दू-

---

१. बंगीय कवि भी पुरी से ही अपनी समुद्र यात्रा प्रारम्भ करते हैं। (दि० डा० श्री तमोनाशचन्द्र दास गुप्त : प्राचीन बांगाला साहित्येर कथा, सेकाले बांगालीर वाणिज्य, पृ० ७७)।

२. बाँगालार 'पूर्व्वदेश' बलिते ब्रह्मदेशकेइ (विशेषतः निम्नब्रह्म) बुझाइतेछे जातिविचारहीन बौद्धगण के निया‍इ बोध होइ कविरोष करिया बलिते छेन जे 'सब जाति एकाचारी नाहिक आचार'। (वही, पृ० ४८)

३. इण्डियन कोलोनिस्टस ब्लू वेंट बाइ सी टु लोअर बर्मा वर फार लार्जर इन नम्बर दैन दोज ब्लू प्रोसीडेड बाइ डिफिकल्ट लैंड रूटस टु अपर बर्मा। (डा० मजुमदार : हिन्दु कोलोनीज, पृष्ठ १६१)

४. डा० मजुमदार : हिन्दु कोलोनीज, पृ० ६६ से ६९

५. वही पृ० १६७-१६८

संस्कृति का केन्द्र था और फिर राजा अनिरुद्ध की कट्टरता के कारण ११वीं शती में जो बौद्ध मत की सांस्कृतिक पीठ बन गई। जायसी का सिंहल यही श्रीक्षेत्र जान पड़ता है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने श्री पर्वत नाम के एक सिद्धपीठ की चर्चा की है[1] जो वज्रयानी सिद्धों का केन्द्र था, यह दक्षिण में था, क्या आश्चर्य है कि भारत से बौद्धमत के साथ यह नाम (श्रीपर्वत या वज्रपर्वत) भी दक्षिण ब्रह्मदेश में अपने गुणों को ले गया हो, और ब्रह्मदेश के पुराने श्रीक्षेत्र में भारत के इस श्रीपर्वत के गुणों की कल्पना उस पिछड़ी हुई जनता ने कर ली हो? डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी स्त्री देश, त्रिया देश, तथा सिंहल को एक मानते हैं; *क्या श्रीक्षेत्र को स्त्रीदेश (स्त्रीक्षेत्र या सिंहल) मानने में इससे अधिक कल्पना की* आवश्यकता है, विशेषतः उस परिस्थिति में जब शेष सारी बातें वहाँ मिल जाती हों ?

जायसी के सिंहलद्वीप में दो और बातों पर भी ध्यान जाता है। प्रथम तो यह कि जायसी ने बार-बार उसकी लंका से तुलना की है, जिसका अभिप्राय यह है कि सिंहल का आदर्श जम्बुद्वीप की अपेक्षा लंका अधिक है, अर्थात् लंका का महत्व कम होने के साथ सिंहल का उत्कर्ष हुआ और क्योंकि यह उत्कर्ष बौद्धमत सम्बन्धी ही था, इसलिए सिंहल को लंका के उपरान्त प्रसिद्धीभूत धर्म-स्थल मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह कि जायसी ने सिंहली हाथियों की बड़ी प्रशंसा की है (सिंहलद्वीप-वर्णन-खंड, दोहा २० से २१ तक) जो स्वयं सिंहल के ब्रह्मदेश में होने का प्रमाण है।

जायसी के सिंहलद्वीप के साथ कदली बन या कजरीबन (या कदली देश) का नाम भी प्रायः लिया जाता है। बंगाल की गोरक्ष-विजय कहानियों में यह प्रसंग बड़े महत्व का है कि जब गोरक्षनाथ के गुरु मीननाथ कदली देश की कामिनियों के जाल में फँस गए तो गोरखनाथ ने उनका उद्धार किया था। गोविन्द दास (१८वीं शती) ने अपने 'कलिका-मंगल-काव्य' में इस घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है···

मीननाथ नामे छल एक महायोगी। भाव जानिते तेइ हइलेन वैरागी॥
गोरक्षनाथ परम योगी मीननाथेर शिष्य। नाना यत्न करिलेक गुरुर उद्देश्य॥
दलेक कामिनी संगा कदलीर बने। अतिरसे अनुभाणि हैल दिने दिने॥

जायसी ने भी परम्परा के अनुसार कजरीबन की कथा का संकेत किया है परन्तु गोरक्षनाथ के प्रसंग में नहीं, गोपीचन्द या भर्तृहरि के ही प्रसंग में —

(क) जो भल होत राज औ भोगू। गोपिचन्द नहिं साधत जोगू।
उन्ह-हिय-डीठि जो देख परेवा। तजा राज कजरी-बन सेवा॥
(जोगी खंड)

---

1. पुरातत्व निबन्धावली, वज्रयान और चौरासी सिद्ध, पृ० १४१

(ख) आनों थाहि गोपिचन्द जोगी। की सो आहि भरथरी वियोगी।
वै पिंगला गए कजरी-आरन। ए सिंघल आए केहि कारन ? ॥
(बसंत खंड)

वस्तुतः जायसी की दृष्टि में कदलीवन और सिंहलद्वीप भिन्न-भिन्न स्थान हैं, यह सम्भव है कि दोनों ही धार्मिक परीक्षा के केन्द्र रहे हों, परन्तु दोनों को एक ही न समझना चाहिए।

यह पूछा जा सकता है कि क्या सचमुच जायसी के मन में इन स्थानों की भौगोलिकता का भी कोई ध्यान था। उत्तर निश्चय ही निषेधात्मक होगा। जायसी और उनकी परम्परा का इन स्थानों से सुना-सुनाया परिचय था, वे बंगीय लोक-कवियों के समान भी नहीं माने जा सकते जो समुद्रजीवी लोगों के ही बीच रहते थे। समुद्र तथा तद्विषयक ज्ञान जायसी आदि को पूर्वी लोक-कहानियों (बंगीय लोक-काव्यों) के प्रभाव से ही मिला होगा, इसीलिये इनके नाम आदि विश्वसनीय नहीं है परन्तु वर्णनों की सचाई पर सदेह नहीं किया जा सकता। वस्तुतः जायसी की दृष्टि से तो उनका सिंहलद्वीप केवल कैलाश है—'सिंहलद्वीप आहि कैलासू'। यदि आखिरी कलाम के वर्णनों से तुलना करते हुए रत्नसेन की सिंहल यात्रा पर विचार किया जाय तो यह रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है।

पद्मावत के पूर्वार्द्ध मे ('षट् ऋतु-वर्णन खड तक के २६ खडों मे) प्रलय तक की कहानी प्रतीक रूप मे कही गई है। रत्नसेन पैगम्बर का प्रतिनिधि सूफी गुरु (या स्वयं पैगम्बर) है, सोलह सहस्र राजकुमार उसके अनुयायी हैं जो उसके रास्ते पर ईमान लाते हैं, समुद्र का किनारा ही इश्क का प्रारम्भ है, मार्ग के सात समुद्र नाना प्रकार की यातनाएँ हैं। अन्त में सिंहल का सुख स्वर्गभोग है, पार्वती बीबी फातिमा जान पड़ती है क्योंकि उसी की दया से सबका उद्धार होता है, तोते का वचन कुरान का उपदेश था। इस प्रकार रसूल के कलाम पर ईमान लाने वाले सूफी मुरशिद के अनुयायी अनेक यातनाओं के सहने के बाद अन्त में अखंड स्वर्गभोग को प्राप्त करते हैं; और शेष सारे लोग नरक कुण्डों में पड़े-पड़े सड़ते रहते हैं। प्रेमपंथ पर चलने वाला उस मार्ग को प्राप्त करता है जहाँ मृत्यु तो है ही नहीं; केवल सुख ही सुख है, और जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं पड़ता।[1] पहले पाँच समुद्र मृत्यु से पूर्व की परिस्थितियाँ हैं, जो इनमें डूब जाता है उसका उद्धार नहीं हो सकता। खार समुद्र में संसार का तिरस्कार है इसको वही पार कर सकता है जिसके हृदय में "सत"[2] है, खीर समुद्र में भोग का आकर्षण है यदि

१. प्रेम-पंथ जो पहुँचै पारा। बहुरि न मिलै आइ एहि छारा।
तेहि पावा उत्तिम कैलासू। जहाँ न मीचु, सदा सुख बासू॥
(बोहित खंड)

२. सत साथी सत कर संसारू। सत खेइ लेइ लावै पारू॥
(सात समुद्र खंड)

मन फँस गया तो योग भ्रष्ट हो जाता है[1], दधि समुद्र में प्रेमाग्नि है इसकी जलन व्यर्थ नहीं जाती[2], उदधि समुद्र में प्रेम की तड़पन है[3], और सुरा समुद्र में प्रेमोन्माद है[4] जिसके कारण ही सिंहल की यात्रा की जाती है। इसके अनन्तर किलकिला समुद्र आता है जो मृत्यु की यात्रा है, यह प्रलय का दृश्य है[5] जिसको देखकर होश-हवास उड़ जाते हैं,[6], इसी अवसर के लिए गुरु की विशेष आवश्यकता होती है।[7] इस 'पुले सरात' का चित्र जैसा पद्मावत में है वैसा ही आखिरी-कलाम में भी :—

(क) इहै समुद्र-पंथ मँझधारा। खाँडै कै असिधार निनारा।
तीस सहस कोस कै पाटा। अस साँकर चलि सकै न चाँटा।
खाँडै चाहि पैनि बहुताई। बार चाहि ताकर पतराई॥
परा सो गएउ पतारहि। तरा सो गा कबिलास॥
कोई बोहित जस पौन उड़ाहीं। कोई चमकि बीजु जस जाहीं॥
कोई जस भल धाव तुखारू।
कोई रेंगहि जानहु चाँटी। कोई टूटि होहिं तर माटी॥

(पद्मावत)

(ख) तीस सहस कोस कै बाटा। अस साँकर जेहि चलै न चाँटा।
बारहु तें पतरा अस झीना। खड़ग-धार से अधिको पैना॥
जो धरमी होइहि संसारा। चमकि बीजु अस जाइहि पारा॥
बहुतक जानौं रेंगहि चाँटी। बहुतक बहे दाँत धरि माँटी॥

(आखिरी कलाम)

यदि यात्री नरक-कुण्डों में गिरने से बच गया तो अब अन्तिम समुद्र मानसर में आता है, इसको 'मानसर' क्यों कहा गया, इसका उत्तर भी 'आखिरी कलाम' में ही मिलेगा—यह दूध और पानी को अलग-अलग करने का स्थान है[8] यहाँ हमारे कर्मों का न्याय होता है। जब बीबी फातिमा की दया से सबका उद्धार हो गया तो रसूल और उसके अनुयायी सुगन्धित जल से नहाकर सज-धजकर ज्योंनार के लिये बैठे, सब के बीच मुहम्मद ऐसे लगते थे जैसे बरात के

---

१. मनुआ चाह दरब औ भोगू। पंथ भुलाइ बिनासै जोगू॥ (सात समुद्र खण्ड)
२. दधि समुद्र देखत तस दाधा। प्रेमकलुबुध दगध पै साधा॥ (वही)
३. तलफै तेल कराह जिमि, इमि तलफै सब नीर॥ (वही)
४. जो तेहि पियै सो भाँवरि लेई। सीस फिरै, पथ पैगु न देई॥ (वही)
५. मैं परलै नियराना जबहीं। (वही)
६. गै औसान सबन्ह कर, देखि समुद्र कै बाटि॥ (वही)
७. एही ठाँउ कहँ गुरु संग लीजिय॥ (वही)
८. नीर छीर हुँत काढ़ब छानी। करब निनार दूध औ पानी॥
(आखिरी कलाम)

बीच दुलहा बैठा हो।[1] दुलहा मुहम्मद और दुलहा रत्नसेन में कोई भेद नहीं है; जिस प्रकार पद्मावती के अनूप रूप को देखकर रत्नसेन तन-मन की सुध भूल जाता है उसी प्रकार परम ज्योति की झलक पाकर रसूल मूछित हो गया। स्वर्ग भोग का वर्णन दोनों स्थलों में एकसा है, इधर हूरें हैं उधर पद्मिनियां हैं—आगे चलकर हूरों को 'पद्मिनी' कह दिया है, सिंघल की कामिनियां तो अप्सराएँ थीं ही। रत्नसेन की बरात तथा रसूल का जलूस बिलकुल एक सा ही है, जिनको देखने के लिए अप्सराएँ बन-ठनकर झरोखों में आ बैठती हैं। जायसी ने 'बिहिस्त' को 'कैलास' कहा है और सिंहलद्वीप को भी, दोनों में सात खंड के प्रासाद हैं, वही अगर, कपूर, कस्तूरी की चहल-पहल, वही राजकुमारी पद्मिनियों के साथ भोग-विलास वही शरीर की सुकुमारता, और रूप का अपूर्व आलोक!!

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थूल रूप से जायसी का सिंहल लोक-परम्परा में प्रसिद्ध दक्षिण ब्रह्मदेश का वैभव-सम्पन्न और धर्म-स्थल कोई समुद्र-तटवर्ती प्रदेश है, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से वह इस्लामी परम्परा का स्वर्ग है, जो रसूल के अनुयायियों का सुरक्षित स्थान कहा जा सकता है।

---

१. ऐसे जउन बियाहै, अस सार्वे बरियात।
दूलह जउन मुहम्मद, बिहिस्त चले बिहँसात ॥२१॥ (आख़िरी कलाम)

मन फँस गया तो योग भ्रष्ट हो जाता है[1], दधि समुद्र में प्रेमाग्नि है इससे अपन स्पर्श नहीं जाती[2], उदधि समुद्र में प्रेम की तड़पन है[3], और सुरा समुद्र में प्रेमोन्माद है[4] जिसके कारण ही निर्गुन की यात्रा की जाती है। इसके अनन्तर किलकिला समुद्र आता है जो मृत्यु की यात्रा है, यह प्रलय का द्वार है[5] जिसको देखकर होश हवास उड़ जाते हैं,[6], इसी अवसर के लिए गुरु की विशेष आवश्यकता होती है।[7] इस 'पुले सरात' का चित्र जैसा पद्मावत में है वैसा ही आखिरी-कलाम में भी :—

(क) इहै समुद्र-पंथ मंझधारा। खाँडै कै असिधार निनारा।
तीस सहस कोस कै बाटा। अस साँकर चलि सकै न चाँटा।
खाँड़े चाहि पैनि बहुताई। बार चाहि ताकर पतराई॥
एता सो गएउ पनारहिं। तरा सो गा कविलास॥
कोई बोहित जस पौन उड़ाहीं। कोई चमकि बीजु अस जाहीं॥
कोई जस भल धाव तुखारू।
कोई रेंगहि जानहुँ चाँटी। कोई टूटि होहिं तर माटी॥

(पद्मावत)

(ख) तीस सहस कोस कै बाटा। अस साँकर जेहि चलै न चाँटा।
बारहु तें पतरा अस झीना। खड़ग-धार से अधिको पैना॥
जो धरमी होइहि संसारा। चमकि बीजु अस जाइहि पारा॥
बहुतक जानौं रेंगहि चाँटी। बहुतक बहै दाँत धरि माँटी॥

(आखिरी कलाम)

यदि यात्री नरक-कुण्डों में गिरने से बच गया तो अब अन्तिम समुद्र मानसर में आता है, इसको 'मानसर' क्यों कहा गया, इसका उत्तर भी 'आखिरी कलाम' में ही मिलेगा—यह दूध और पानी को अलग-अलग करने का स्थान है[8] यहाँ हमारे कर्मों का न्याय होता है। जब बीबी फातिमा की दया से सबका उद्धार हो गया तो रसूल और उसके अनुयायी सुगन्धित जल से नहाकर सज-धजकर ज्योंनार के लिये बैठे, सब के बीच मुहम्मद ऐसे लगते थे जैसे बरात के

---

१. मनुआ चाह दरब औ भोगू। पंथ भुलाइ बिनासै जोगू॥ (सात समुद्र खण्ड)
२. दधि समुद्र देखत तस दाधा। प्रेम क लुबुध दगध पै साधा॥ (वही)
३. तलफै तेल कराह जिमि, इमि तलफै सब नीर॥ (वही)
४. जो तेहि पियै सो भाँवरि लेई। सीस फिरै, पथ पैगु न देई॥ (वहीं)
५. मैं परलै नियराना जबहीं। (वही)
६. गै औसान सबन्ह कर, देखि समुद्र कै बाटि॥ (वही)
७. एही ठाँउ कहँ गुरु संग लीजिय॥ (वही)
८. नीर छीर हुँत काढ़ब छानी। करब निनार दूध औ पानी॥ (आखिरी कलाम)

## ६ | पद्मावत में रूपक-त

'पद्मावत' काव्य को प्रारंभ करते ही 'स्तुति-खंड' में पाठक का
उन पंक्तियों पर जाता है जिनमें जायसी ने इस काव्य की भूमिका बतलाई
कवि कहता है कि —मैंने अपनी कथा का प्रारंभ सन् ९२७ में किया। कथा
है कि सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मिनी थी, उसके साथ विवाह करके उस
राजा रत्नसेन चित्तौड़ गढ़ से आया। अलाउद्दीन दिल्ली का बादशाह था, जि
सामने राघव-चेतन नामक ब्राह्मण ने पद्मिनी के रूप का वर्णन किया। वर्णन
आकृष्ट होकर अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। फिर हिन्दू-तुर
की लड़ाई हुई। आदि से अन्त तक जिस प्रकार की कथा है उसको भाषा में लि
कर मैं चौपाइयों में कहता हूँ।"[1] आगे के 'खंडों' में भी कथा की यह प्रवृ
स्पष्ट दिखलाई पड़ती है—

(क) सिंघल दीप कथा अब गावौं।
 औ सो पदमिनी बरनि सुनावौं ॥
(ख) चित्रसेन चितउर गढ़ राजा।
 कै गढ़ कोट चित्र सम साजा ॥
 तेहि कुल रतनसेन उजियारा।
 धनि जननी जनमा अस बारा ॥

कथा के अन्त में भी कवि के अन्तिम शब्द यही संकेत करते हैं कि नाग-
मती पद्मावती के सती हो जाने पर काव्य का अन्त हो जाता है—

---

१. सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा अरंभ बैन कवि कहा ॥
 सिंघल दीप पदमिनी रानी। रतनसेन चितउर गढ़ आनी ॥
 अलउद्दीन देहली सुलतानू। राघौ चेतन कीन्ह बखानू ॥
 सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरकन्ह भई लराई ॥
 आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै ॥

क्या कहा जावेगा ? क्या मन फिर शरीर में रम गया और उस बुद्धि को भी अपनी वशंगता बनाकर उसको शारीरिक सुख में लिप्त कर सका ? यदि ऐसा माना जावे तो बुद्धि का महत्व समाप्त हो जावेगा और वह केवल मन की वश-वर्तिनी मात्र रह जावेगी। वस्तुतः राजा का सिंहलद्वीप से लौटना मन का पक्ष तो माना जा सकता है, परन्तु पद्मावती का साथ लौटना (और वह भी वश बनकर) दूसरे अर्थ में निश्चय ही एक दोष उत्पन्न कर देता है।

हीरामन तोते को गुरु माना गया है। गुरु उसी परम सत्ता की प्रेरणा से चलता है और संयोगवश किसी भाग्यवान् को उसकी प्राप्ति हो जाती है। गुरु ने मन को स्वयं उपदेश नहीं दिया प्रत्युत वह "दुनियाँ-धन्धा" के उस अभिमान को चूर करता है कि उसमें सबसे अधिक आकर्षण है। मन को जब यह ज्ञात हुआ कि गुरु एक और भी अधिक आकर्षक वस्तु को जानता है तो मन उस गुरु से यह प्रार्थना करता है कि उस परम सत्ता का सांगोपांग वर्णन करे। जायसी ने इस अवसर पर जो नखशिख वर्णन किया है उसका परमसत्ता से किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध समझना सफेद झूँठ है—वह तो एक पद्मिनी नायिका का श्रृंगारी तथा विलासी चित्र है। सिंहलद्वीप में पहुँचकर तोते ने पद्मावती को रत्नसेन के प्रेम तथा त्याग की जो बात बतलाई थी वह भी असंगत है, क्या गुरु की यह भी ड्यूटी है कि वह उस परमसत्ता से उस साधक की सिफारिश करे?—संभवतः कुछ विद्वान् इसको पैगम्बरी प्रभाव कह देंगे।

खटकनेवाली दो बातें और हैं। प्रथम तो यह कि काव्य के प्रारम्भ में ही जब पद्मावती तोते से कहती है कि:—

> सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई॥
> जोबन मोर भएउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा॥

तो उसकी भी संगति दूसरे पक्ष में नहीं बैठ सकती, शायद परमात्मा कभी भी किसी जीव की उपासना का इतना भूखा न रहता होगा कि अपनी ओर से एक देवदूत को गुरु बनाकर साधकों की भर्ती करावे। दूसरी बात तोते के एक दम विलीन हो जाने की है, मन और बुद्धि के एकरूप होते ही गुरु अन्तर्धान हो गये, मन बुद्धि को अपनी वशवर्तिनी बनाकर फिर शरीर के सुखों को भोगने के लिए लौट आया, परन्तु गुरु बेचारे उस बुद्धिरहित हृदय में ही रमण करते रहे। जिस समय मन (राजा) को माया (अलाउद्दीन) ने अपने अधिकार में कर लिया उस समय गुरु की आवश्यकता का अनुभव होता है परन्तु न तो मन ने उनका ध्यान किया और न वे स्वयं उपस्थित होने का कष्ट कर सके।

जायसी ने सबसे बड़ी भूल यह की है कि नागमती, अलाउद्दीन तथा राघवचेतन के विभागों का पृथक्करण नहीं किया। नागमती, 'दुनियाँ-धंधा' है, अलाउद्दीन 'माया', और राघव 'शैतान'—परन्तु इन तीनों में पारस्परिक भेद क्या है? जिसको वेदान्ती 'माया' कहते हैं उसी को जनसाधारण 'दुनियाँ-धंधा' कहता है, और मुसलमानों का शैतान [illegible] है जो बन्दे को खुदा की इबादत से

हम रखें। यह भी सोचना है कि शैतान अपना प्रभाव जीव पर डालता है या ी अन्य (माया) पर, क्योंकि इस कथा में तो राघव ने राजा से कुछ नहीं केवल बादशाह को अपनी पट्टी पढ़ाई। ऐसा जान पड़ता है कि जायसी ने पात्र तीन देखे जो कि रत्नसेन और पद्मावती के निर्विघ्न संयोग में बाधक हैं, तीनों का अलग-अलग व्यक्तित्व है इसलिए उनको तीन नाम दे दिये गये। री समझ में राघव का व्यक्तित्व अलाउद्दीन के व्यक्तित्व से भिन्न नहीं है सको हम बादशाह का एक गण कह सकते हैं) इसलिए उसको अलग नाम न चाहिए था। तब अलाउद्दीन को शैतान कह दिया जाता और नागमती को या, क्योंकि माया अपने आकर्षण के कारण जीवात्मा को परमात्मा से अलग ाये रखती है और शैतान का काम केवल यही है कि साधक के संयोग में विघ्न स्थित करता रहे, जैसा कि अलाउद्दीन का काम है क्योंकि उसको पद्मिनी की ाप्ति तो न हो सकी उसने केवल रत्नसेन-पद्मिनी के संयुक्त जीवन में बाधाएँ लने में सफलता प्राप्त की।

माया का निवास-स्थान कौन-सा है? अपने यहाँ माया को भी ब्रह्म के ान विश्वव्यापिनी कहा गया है। जायसी ने अलाउद्दीन के निवास-स्थान दिल्ली वर्णन इन शब्दों किया है—

सो दिल्ली अस निबहुर देसू। कोइ न बहुरा कहै संदेसू॥
जो गवनै सो तहाँ कर होई। जो आवै किछु जान न सोई॥
अगम पंथ पिय तहाँ सिधावा। जो रे गएउ सो बहुरि न आवा॥

जिससे जान पड़ता है कि यह साक्षात् परलोक है। और जब इसकी ुलना सिंहलद्वीप के वर्णन से करते हैं:—

पथिक जो पहुँचै सहि कै घामू। दुख बिसरै, सुख होइ बिसरामू॥
जेइ वह पाई छाहँ अनूपा। फिरि नहिं आइ सहै यह धूपा॥

तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के सामने तीनों नगरों में से किसी का ी स्पष्ट चित्र नहीं है, वह सभी को या तो स्वर्ग समझने लगता है या सभी को ाया इस पिण्ड में देखने लगता है। चित्तौड़गढ़ तथा सिंहलद्वीप का वर्णन भी गभग एकसा ही है, उसी प्रकार 'पोरी', 'कनक-केवार', 'राजघरियार', 'खंड', या 'मंदरी' दिखलाई पड़ती है—केवल अन्तर यह है कि सिंहलद्वीप में उनकी ख्या नौ है और चित्तौड में सात।

नागमती को जायसी ने 'दुनिया-धंधा' कहा है। जब तक गुरु नहीं आये थे ागमती ने राजा पर ऐसा जाल फैलाया था कि वह संसार में उसी को सबसे ुन्दर मानता था। गुरु की कृपा से राजा के भीतरी नेत्र खुले और वह उससे अधिक ूपवती की प्राप्ति के लिए चल पड़ा। तदनन्तर नागमती का विरह-वर्णन है जसको दूसरे अर्थ में असंगत ही समझा जावेगा, क्योंकि दुनिया के धंधे मन को ँसाते अवश्य हैं परन्तु जब मन विरक्त हो जाता है तो इन धंधों को इसकी कोई रवाह नहीं होती। दूसरी बात यह है कि पद्मावती तो इतनी रूपवती है कि

राजा उसके वश में रहता है (साधक के लिए भी साध्य के वश में रहना स्वाभाविक है), परन्तु नागमती कुलगृहिणी है, वह पति की वशवर्तिनी है—र (मन) उसके वश में नहीं, वह (दुनिया-धंधा) राजा (मन) के वश में है—एक दोष है, क्योंकि दुनिया में भी वही आकर्षण है जो परमात्मा में है बल्कि दुनिया में परमात्मा से भी अधिक आकर्षण है अन्यथा अविकतर व्यक्ति दुनिया में न रमकर परमात्मा में रमते। नागमती का अन्त भी रूपक की पुष्टि न करता, नागमती तथा पद्मावती दोनों ही राजा के साथ सती हो जाती हैं। पद्मावती का सती होना तो ठीक है, क्योंकि उसका अभिप्राय यह हो सकता है कि (आत्मा) तथा बुद्धि (परमात्मा) बाहरी आवरण (शरीरों) को त्यागकर इस प्रकार मिल जाते हैं कि फिर उनका वियोग नहीं हो सकता—

औ जो गांठि, कंत ! तुम्ह जोरी। आदि अंत लहि जाइ न छोरी॥
यह जग काह जो अछहि न आथी। हम तुम नाह ! दुहूँ जग साथी॥

परन्तु नागमती सती क्यों हो गई ? क्या जब मन बुद्धि से अभिन्न होकर मिलता है या आत्मा परमात्मा में मिलती है, तो दुनिया के धंधे भी साथ लगे रहते हैं ? हम समझते हैं कि माया (अलाउद्दीन) के समान उनको भी यहीं रह जाना चाहिए था।

अब रत्नसेन और पद्मावती के व्यक्तित्वों को देखिए ! जायसी ने राजा को मन तथा रानी को बुद्धि माना है, जिसका अभिप्राय यह है कि राजा साधक है और रानी साध्य। रानी के माता-पिता का कोई सांकेतिक अर्थ नहीं हो सकता और न उसके जीवन की भिन्न-भिन्न क्रीड़ाओं से हम कुछ समझ पाते हैं। राजा के पक्ष में भी यही बात है, उसका यश-वैभव, नगर-हाट, संतति, युद्ध आदि का रूपक की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं। यह हम कह चुके हैं कि रानी का तोते से अपनी कामवेदना का निवेदन सामान्य अर्थ में तो हेय है ही, आध्यात्मिक अर्थ में भी ग्राह्य नहीं। इसी प्रकार "पद्मावती-रत्नसेन भेंट खंड" में रानी ने राजा को अपने पूर्वानुराग की जो बात बतलाई है उसमें कितनी सरसता है, परन्तु रूपक की दृष्टि से वह भी असंगत है—

जब हुँत कहिगा पंखि सँदेसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी॥
तब हुत तुम बिनु रहै न जीऊ॥ चातकि भयउँ रटत "पिउ पीऊ"॥

यदि पुस्तक के भीतर रखे गये अध्यायों पर ध्यान दिया जावे तो 'नख-शिख खंड', 'पद्मावती-रत्नसेन-भेंट-खंड', 'रत्नसेन-साथी-खंड', 'षट्-ऋतु-वर्णन-खंड', 'लक्ष्मी-समुद्र-खंड', 'नागमती-पद्मावती-विवाद-खंड', 'रत्नसेन-संतति-खंड', 'स्त्रीभेद-वर्णन-खंड' 'पद्मावती-रूपचर्चा-खंड', 'बादशाह-भोज-खंड', 'देवपाल-दूती-खंड', 'बादशाह-दूती-खंड', आदि दसों अध्याय ऐसे हैं जिनका रूपक से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। यदि रूपक की उपयोगिता को ... में रखकर इस काव्य में काट-छाँट की जावे तो इसका आकार आधा हो जावेगा, यदि वही कतरनी पात्रों तथा कथावस्तु पर चले तो पात्रों में केवल चार-

पाँच शेष बचेंगे और कथावस्तु एक-तिहाई रह जावेगी।

इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पद्मावत में रूपक का निर्वाह नहीं हुआ, उस काव्य को कथा समझकर पढ़ना ही अधिक न्याय्य है, इसमें किसी सिद्धान्त का मूलाधार खोजना भूल होगी। परन्तु यह कहना भी उचित नहीं कि जायसी का ध्यान रूपकतत्व की ओर बिलकुल भी नहीं था। 'उपसंहार' को प्रमाण न माना जावे तो भी कथा-वर्णन के अधिकतर 'खंडों' में कुछ ऐसे स्थल मिलते हैं जिनका स्पष्ट रूप लोकेतर चक्षुओं के बिना दिखलाई नहीं पड़ सकता। इन स्थलों को हम आनुषंगिक नहीं कह सकते; इनमें इतना प्रवाह है कि इनमें कवि की आत्मा रम गई जान पड़ती है, जैसे पद्मावती की विदा का यह दृश्य है—

गवन-चार पद्मावति सुना। उठा धसकि जिउ औ सिर धुना॥
नैहर आइ काह सुख देखा? जनु होइगा सपने कर लेखा॥
कंत चलाई का करौं, आयसु जाइ न मेटि।
पुनि हम मिलहिं कि ना मिलहिं, लेहु सहेली भेंटि॥

अस्तु, जायसी ने 'पद्मावत' को कथा के रूप में लिखा था न कि एक रूपक बनाकर। कथा के बीच में जो इतर संकेत मिलते हैं वे कवि की भावुकता तथा दृष्टिकोण विशेष के परिचायक हैं न कि किसी रूपक के अंग। जान पड़ता है कि रत्नसेन और पद्मावती के पारस्परिक व्यवहार में तो कवि आदित एव संकेत देखता रहा (कभी राजा साध्य बन जाता है, कभी रानी), और पात्रों के विषय में ऐसा भी कोई विचार नहीं था। नागमती, राघव चेतन तथा अलाउद्दीन के अर्थ तो निश्चय ही पीछे जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। तोता तथा नागमती का नाम भूमिका में नहीं है। उपसंहार में अनेक आवश्यक पात्रों का संकेत नहीं दिया गया। कथा की प्रवृत्ति ही इस काव्य का प्राण है, इस गुण पर ध्यान न देकर रूपक-तत्व की खोज असफल तो रहेगी ही कवि के प्रति न्याय भी न कर सकेगी।

## ७ | कबीर का काव्य

सन्त-मत नामक सम्प्रदाय के पूर्व प्रवर्तक महात्मा कबीर थे। उनके पश्चात् जो सन्त-महात्मा हुए उनमें गुरु नानक, दादूदयाल, जगजीवन साहब, पलटू साहब, हाथरस वाले तुलसीदास, गरीबदास, सुन्दरदास, चरणदास, नामा जी, दरिया साहब रामदास, सूरदास आदि बहुत प्रसिद्ध हैं।[1] सन्त मत एक व्यापक नाम है, गुरु-विशेष का सम्प्रदाय उसके व्यक्तित्व तथा देशकाल की परिस्थितियों के कारण, सन्त-मत से अनुप्राणित होता हुआ भी, विशेष नाम से विख्यात हुआ; यहाँ तक कि राधास्वामी सम्प्रदाय का नाम तो उस परम्परा से बिल्कुल अलग है ही 'राधा' का संयोग भी निर्गुणियों को अजीब लगेगा; नानक का पंथ परिस्थितियों के कारण अध्यात्म की अपेक्षा संसार को अधिक प्रश्रय देने लगा। फिर भी कबीर की प्रत्यक्ष या परोक्ष मान्यता इन सभी सम्प्रदायों में है, उत्तर-पश्चिम में नानक, पश्चिम-दक्षिण में दादू, दक्षिण में नामदेव-तुकाराम[2], और पूर्व में अच्युतानन्द दास, (उड़ीसा) जैसे दिग्गजों पर कबीर का सादृश्य दृष्टिगत होता है; अपने क्षेत्र में तो उनके बहुत से शिष्य तथा अनेक उप-सम्प्रदाय हैं।

कबीर की तुलना के लिए सर्वप्रथम हमारा ध्यान तमिल-वेद तिरुक्कुरल के रचियता तिरुवल्लुवर[3] (ईसा से पूर्व शती) पर जाता है। दोनों के जन्म पर एक-सी जनश्रुतियाँ हैं, दोनों जाति के हीन थे, जुलाहे का व्यवसाय करके अपने गृहस्थ का निर्वाह करते थे, दोनों की शिक्षा-दीक्षा आदि के विषय में कोई प्रामाणिक वक्तव्य सम्भव नहीं। वल्लुवर का 'कुरल' तथा कबीर की 'साखी' आकार

१. राधास्वामी सम्प्रदाय, 'सरस्वती', जनवरी १९१७
२. कबीरदास के दोहे तो उन्होंने याद किये थे। इस बात का वर्णन महीपति जी ने किया है। इन दोहों की छाप इनके अभंगों पर कई स्थानों पर पड़ी हुई नजर आती है। संत तुकाराम, पृ० ६६
३. तमिल-वेद, भावना और समीक्षा, पृ० १९२

प्रकार में समान हैं। वल्लुवर के युग में जिस श्रद्धा का साम्राज्य था उसका प्रभाव उनके गंभीर तथा व्यापक जीवन-दर्शन में है; परन्तु कबीर का युग खंडन से लाञ्छित है, इसलिए कबीर-साहित्य में अखंडता की रक्षा नहीं हो सकी है। जहाँ तक जाति का प्रश्न है, आलवाड़ सन्त ही नहीं, दादू (धुनिया), रैदास (चमार), नामदेव (दर्जी), सभी शूद्र थे और नेताओं के अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश में शूद्र-भक्तों की बाढ़-सी आ गई थी; श्री दिवेकर ने महाराष्ट्र के प्रमुख सन्तों में गोरा और राका कुम्हार, सांवता माली, नरहरि सुनार, जोगा तेली, शामा चूड़ीवाला, बंका और चोखा महार, तथा कान्होपात्रा वेश्या के नाम गिनाये हैं[1]; उड़िया के अच्युतानन्द दास प्रभृति 'पंचसखा' शूद्र ही थे। शूद्रों के इस भक्ति-आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने से दो स्वतःसम्भव लाभ हुए—एक, अभिजात-वर्ग का अहंकार दमित हो गया, दूसरा पतित-समाज में सांस्कृतिक उच्छ्वास फैल गया।[2] इसी दोमुखे प्रयत्न से भक्तों ने मध्यकालीन समाज में सांस्कृतिक क्रान्ति उपस्थित कर दी।

हिन्दी में कबीर ही प्रथम भक्त हैं, इसलिए भक्ति-आन्दोलन की युग-व्यापिनी विशेषताओं से कबीर के व्यक्तित्व का बहुत कुछ अनुमान लग जाता है, कुछ बड़े-बड़े सम्प्रदायों को छोड़कर शेष का कबीर मत से सम्पर्क रहा है—भले ही कबीर-मत अखंड रूप में कबीर की ही उद्भावना न हो। कबीर की बहुत सी बातें मानकर भी कुछ सम्प्रदाय जब संगठित रूप में चले तो उनको मन्दिर, तीर्थ, व्रत, तथा 'कागद की लेखी' में विश्वास करना पड़ा। उदाहरणार्थ महाराष्ट्र के 'वारकरी' सम्प्रदाय में 'पंढरपुर तथा 'विट्ठल' का महत्त्व है, और अषाढ़ तथा कार्तिक की एकादशियों को पंढरपुर में वारी करने वाले विट्ठल-दर्शन से अपने को धन्य मानते हैं। इसी प्रकार उड़ीसा के 'महिम' धर्म ने अनेक सम्प्रदायों को पचाकर सगुण द्वारा निर्गुण की उपासना चलाई, इसके प्रवर्तक 'पंचसखा' थे, इस में पुरी-प्रतिष्ठित देवाधिदेव जगन्नाथ की उपासना की जाती है; और इन पंच-सखाओं ने मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा तथा तांत्रिक एवं यौगिक साधनाओं को धिक्कारा भी है। सिक्ख सम्प्रदाय ग्रन्थ विशेष की पूजा करता है और उसके कथनों को कट्टरता पूर्वक पवित्र मानता है; राधास्वामी सम्प्रदाय में मन्दिर तथा समाधियाँ पूजा के लिए ही हैं। स्वयं कबीरपंथ में अंधानुसरण तथा अपने को ठीक और दूसरों को झूठा समझने की पर्याप्त प्रवृत्ति है। अस्तु, इन बाहरी आडम्बरों की विभिन्नता में

---

१. संत तुकाराम पृ० ७

२. ...ऑफ पुलिंग डाउन दि हेजेमनी ऑफ दि सोशल बिगोट्स एण्ड प्रोसो ऑफ अपलिफ्टिंग दि लोअर स्ट्रेटा ऑफ सोसाइटी विद दि मीन्स ऑफ कल्चरल इन्नोवेशन्स।

(स्टडीज इन मेडीवल रिलीजन एण्ड लिट्रेचर ऑफ उड़ीसा, १६)

भी निर्गुण उपासना कुछ आंतरिक विशेषताओं के कारण अलग छाँटी जा सकत है। इन विशेषताओं में मुख्य हैं ब्राह्मण धर्म के पूज्य ग्रन्थ वेद, उपनिषद् आदि की प्रमाण्यता और उनके स्थान पर संप्रदाय-प्रवर्तक के भाषा-निबद्ध वचनों क आदर-प्रदान; ज्ञानेश्वर आदि भी सन्त हैं परन्तु वे इस प्रवाह से बाहर हैं इसी लिए उनमें गीता का महत्व है; वस्तुतः प्रस्थानत्रयी को निर्गुणिये आदर नहं देते। इसी विशेषता के कारण आधुनिक पुनरुत्थान के दयानन्द, रामकृष्ण विवेकानन्द, अरविन्द, गांधी आदि न कोरे सन्त हैं और न सम्प्रदाय-प्रवर्तक दूसरी विशेषता है अपनी पद्धति को धर्म का रूप न देकर सम्प्रदाय का रूप देना अर्थात् इसमें सामाजिक जीवन की व्यापक व्यवस्था न करके केवल व्यक्तिगत उपासना आदि का मार्ग निकालना; फलतः साम्प्रदायिक विश्वासों के समान होते हुए भी निर्गुणिये सन्त सामाजिक जीवन में एक-दूसरे से बहुत दूर हैं। प्रारम्भिक दिनों में निर्गुणियों ने शास्त्र और अध्ययन में अविश्वास दिखलाया, परन्तु सम्प्रदाय चल जाने पर प्रवर्तक के वचन ही शास्त्र बन गये और धीरे-धीरे अनुभव का स्थान साक्षरता ने ले लिया, फिर भी साधन तथा अनुभव से ही महत्ता की माप इस आन्दोलन की तीसरी विशेषता माननी चाहिए। चतुर्थ विशेषता बाह्य आडम्बरों का त्याग तथा सदाचारी जीवन है, इस जीवन में गृहस्थ भी सम्मिलित है क्योंकि घर-बार त्यागकर उपासना में निर्गुणियों का अधिक विश्वास नहीं। रूप की अपेक्षा नाम को अधिक महत्त्व, जाति-पाँति का त्याग, अहिंसा तथा प्रेम, और सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता तो उस युग में सामान्यतः सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं।

रूप तथा गुण की दृष्टि से कबीर के काव्य को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—दोहा (साखी) तथा गीत (सबद, रमैनी, पद आदि)। इन दोनों वर्गों की आत्मा भले ही एक हो परन्तु मन और हृदय अर्थात् कल्पना तथा भावना में घना अन्तर है अतः इनके सौन्दर्य का पृथक् विवेचन ही अधिक उपयुक्त है।

साखीकार कबीर जनता के सूक्तिकार अनुभवी कवि हैं, साखी में लोक का अनुभव ही नहीं, शास्त्र की अच्छी-अच्छी बातें भी भरी हुई हैं; महात्मा जी ने स्वयं ही अपनी साखी को चारों वेदों का सार[1] बताया है; अनुमान से ज्ञात होता है उस समय बहुत-से लोग साखी लिखते होंगे, परन्तु कुछ कच्चे थे इसलिए आगे न चल सके, कबीरदास ने ऐसे अनुभवहीन समसामयिक साखीकारों को जूठी पत्तल चाटनेवाला[2] कहा है। 'कुरल' के समान 'साखी' शब्द का नाम नहीं

---

१. बलिहारी वहि दूध की, जामें निकरे घीव।
   आधी साखी कबीर की, चारि वेद का जीव॥

२. साखी आखा जतन करि, इत-उत अक्षर काटि।

है और न इस शब्द से वर्ण्य-विषय का बोध होता है; 'साखी' 'साक्षी'[1] का देशीय रूप[2] है, अतः जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य, विधि-निषेध में प्रमाण-स्वरूप बनकर निर्णय कर सके वही साक्षी है, वस्तुतः यह धर्म-शास्त्र या उपदेशामृत का ही पर्यायवाची नाम है। यह आश्चर्य की बात है कि कबीर के अनन्तर सूक्तिकारों ने अपने नीति के दोहे-सोरठों को साखी नाम नहीं दिया, कदाचित् 'साखी' बनाने के लिए साम्प्रदायिक दृष्टिकोण भी अनिवार्य हो गया है। हाँ, तो साखी दोहे में ही हो, यह आवश्यक नहीं, कुछ साखियाँ सोरठे में हैं, और कुछ छन्दोबन्धन-रहित पंक्तिबद्ध सूक्तिमात्र हैं, इनका अल्पाकार तथा सरल कथन ही इनको साखीत्व [दि]ला सका है—

(क) सुखिया सब संसार है, खाये अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥

(ख) जो मोहि जानै, ताहि मैं जानौं।
लोक वेद का, कहा न मानौं॥

साखी के वर्ण्य विषय तीन हैं—विधि, निषेध तथा निरूपण। विधि और निषेध तो धर्म तथा नीति के अंग हैं, निरूपण सांप्रदायिक है। विधि और निषेध की तुलना में कबीर ने निरूपण की साखियाँ बहुत कम लिखी हैं, क्योंकि साम्प्रदायिक कार्यवाही के लिए वे गीतों को अधिक उपयुक्त समझते थे। कबीर का समस्त निरूपण प्रधानतः हिन्दू शास्त्रों से आया है। अतः निरूपण की साखियों में सौन्दर्य की अखिल झलक कबीर ने दूसरों से ही ली है। उदाहरण के लिए कर्त्ता की पूर्णता, निराकारत्व, सर्वव्यापकता आदि का निरूपण उसी पुरानी धार्मिक शब्दावली में देखिए :—

(क) अछै पुरुष इक पेड़ है, निरंजन वाकी डार।
तिरदेवा साखा भये, पात भया संसार॥

(ख) जाके मुँह माथा नहीं नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्व अनूप॥

(ग) तेरा साँई तुझ में, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यों, फिर फिर ढूँढ़ै घास॥

अक्षय-वट, तथा ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख अश्वत्थ वृक्ष की चर्चा हिन्दु-शास्त्रों में प्रसिद्ध है; बृहदारण्यक उपनिषद् में "यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः।" द्वारा पुरुष को वृक्ष के समान

---

1. तुलना कीजिए—
सूरदास प्रभु की महिमा अति साखी वेद-पुरानो। (सूरसागर, विनय, ११)
गर्भ परीच्छन रच्छा कीन्हो, वेद-उपनिषद् साखी। (वही, ११२)

2. जो हम कही, नहीं कोउ मानै, ना कोइ दूसर आया।
बदन-साखी सब जिउ अरुझे, परम धाम ठहराया॥

समझाया गया है; मुण्डकोपनिषद् में "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।" आदि के प्रसंग में 'अश्वत्थ सनातन वृक्ष' की कल्पना की है। कबीर के वृक्ष-रूपक में इसी प्रकार की परम्पराओं का सुना-सुनाया परिचय है। इसी प्रकार अणु से भी अणु, अग्नि में तेज, वायु में गति, तथा जल में शीत के समान ब्रह्म को अपने भीतर खोजने का आदेश भारतीय परम्परा में चला आ रहा है। कबीर ने इस विश्वास में जहाँ भी आवश्यक समझा है, हिन्दू परम्परा से सौन्दर्य का सम्पादन किया है। उपनिषद् के कुछ अन्य दृष्टान्त भी कबीर में आ ही गये हैं :—

(क) अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः। (मुण्डकोपनिषद्)
अन्धे को अंधा मिला, राह बतावै कौन ॥
अन्धे अन्धा ठेलिया, दून्यू कूप पड़ंत ॥

(ख) तिलेषु तैलं, दधनीव सर्पि—
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः (श्वेताश्वतरोपनिषद्)
ज्यों तिल माहीं तेल है, ज्यों चकमक में आगि।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सकै तो जागि ॥

(ग) अपाणिपादो जवनो गृहीता,
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः (श्वेताश्वतर)
बिनु मुख खाइ, चरन बिनु चालै, बिन जिभ्या गुन गावै।
आछे रहै ठौर नहिं छाँड़ै, दस दिसहूँ फिरि आवै ॥

(घ) पुरमेकादशद्वारम् अजस्यावक्रचेतसः। (कठोपनिषद्)
दस द्वारे का पींजरा; तामें पंछी पौन ॥

(ङ) प्रणवः धनुः, शरो ह्यात्मा, ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं, शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ (मुण्डकोपनिषद्)
शब्द की चोट लगी मेरे मन में, बेध गया तन सारा ॥
सोवत ही में अपने मंदिर में, सब्दन मारि जगाये रे फकिरवा ॥

(च) यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे···। (मुण्डकोपनिषद्)
समुदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भईं।

कबीर के काव्य से इन स्थलों को उद्धृत करके उपनिषद् से सादृश्य दिखाने का न तो यह अर्थ है कि कबीर ने उपनिषद् सुने थे या वे उनके उन स्थलों से परिचित थे, और न यह है कि एक दृष्टान्त का जो उपयोग उपनिषद् में है ठीक वही कबीर में भी है। हमारा अभीष्ट केवल यही दिखाना है कि उस युग की सुनी-सुनाई बातों में उपनिषद् का ज्ञात या अज्ञात रंग था, कबीर में अनायास ही उसके छींटे आ गये हैं।

अब विधि और निषेध की साखियों में से विधि की साखियाँ देखिए। कबीर ने अपने अशिक्षित शिष्यों के लिए जो नीति के दोहे कहे हैं, उनमें से बहुत सों के चरण आज लोकोक्ति रूप में प्रयुक्त मिलते हैं, इस लोकोक्तिपन का श्रेय

कबीर कोरे है या कबीरत्व का उत्तरदायित्व लोकोक्ति पर है—यह ठीक-ठीक बताया नहीं जा सकता; हमारा अनुमान है कि इनमें से अधिकतर लोकोक्तियाँ उस समय किसी न किसी वेष में प्रचलित थीं, कबीर ने उनको अपना साधन बना कर अमर कर दिया है—

(क) आपुहि खारी खात है, बेचत फिरै कपूर ।।
(ख) कहबे को चंदन भये, मलयागिर ना होय ।।
(ग) बहुत रसिक के लागते, बेस्वा रहि गई बाँझ ।।
(घ) जाका घर है गैल में, क्या सोवे निर्वात ।।
(ङ) हुइ पट भीतर आय के, साबुत गया न कोय ।।
(च) केते दिन लौं राखि हौं, काँचे बासन नीर ।।
(छ) कोयला होय न ऊजरा, सौ मन साबुन लाय ।।
(ज) प्रेम-गली अति साँकरी, तामें दो न समाँय ।।
(झ) दुविधा में दोऊ गये, माया मिली न राम ।।
(ञ) अब पछतावा क्या करै चिड़िया चुग गई खेत ।।
(ट) पाँव कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ ।।
(ठ) बोया पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय ।।
(ड) जाके आँगन है नदी, सो कस मरै पियास ।।

इन लोकोक्तियों के उपरान्त नीति की इस वाणी में दूसरा आकर्षण सहज गुण का है, शास्त्रीय दृष्टि से उसमें कोई सौन्दर्य न हो परन्तु अपने भोलेपन से वह हृदय को मुग्ध कर लेती है, वाणी का यही रूप कबीर की लोकप्रियता का भी कारण है—

(क) जाको राखै साँइयाँ, मारि न सक्कै कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय ।।
(ख) दुख में सुमिरन सब करै, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहे को होय ।।
(ग) देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय ।।
(घ) चाह गई, चिंता मिटी, मनुआँ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सोई साहंसाह ।।
(ङ) साँई इतना दीजिए, जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ।।
(च) साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप ।।
(छ) बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय ।।

इन साखियों की संख्या अपार है। इनमे काव्य का सौन्दर्य उतना नहीं, जितना

कि सत्य का; फिर भी ये साहित्यिकार को उतना ही आकृष्ट करती हैं जितना कि शिष्य को; इसी प्रकार की साखियों के आधार पर कबीरदास को हिन्दी का श्रेष्ठ सहज कवि माना जाता है।

कबीर की साखियों का सबसे बड़ा आकर्षण तो मौलिक अप्रस्तुत-योजना है। कबीर का समाज कौनसा था, उनके शिष्य किस वर्ग के थे, उनकी कितनी योग्यता थी, उनका रहन-सहन रीति-रिवाज क्या थे—इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमको कबीर की वह अप्रस्तुत-योजना देखनी पड़ेगी जो किसी दूसरे से नहीं आई, प्रत्युत कबीर से जन्मकर कबीर तक ही सीमित रह गई। और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर का समाज धोबी और कुम्हार, रंगरेज और लुहार, संक्षेप में उस वर्ग का था जिसकी ब्राह्मण ने अवहेलना कर दी थी और जो साक्षर तो था ही नहीं मानसिक स्तर की दृष्टि से भी अत्यन्त हीन था। ब्राह्मण और कबीर में तो पानी और अग्नि का-सा वैर[1] है, क्षत्री भी प्रत्यक्ष तो नहीं मिलते उनके शूर-धर्म की निन्दा करते हुए कबीर ने एक नये[2] शूर-धर्म की स्थापना की है, वैश्य[3] की साखियाँ एक-दो हैं वह भी संसारी लोगों के प्रसंग में नहीं; शूद्रों में भी दर्जी, सुनार, नाई आदि अपेक्षाकृत उच्च वर्ग के लोग भुला दिये गये हैं, उनके स्थान पर मगहर-निवासी रंगरेज, लुहार, कुम्हार, धोबी आदि का बहुशः स्मरण है—

(क) जैसे खाल लोहार की, साँस लेत बिनु प्रान।।
*बिना जीव की स्वाँस सों, लोह भसम ह्वै जाय।।*

(ख) गुरु कुम्हार, सिष कुंभ है, गढ़ गढ़ काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट।।

(ग) गुरु-धोबी, सिष-कापड़ा, साबुन-सिरजनहार।
सुरति-सिला पर धोइए, निकसै जोति अपार।।

(घ) धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय।।

(ङ) कबिरा मन पर्वत हता, अब मैं पाया जानि।
टाँकी लागी शब्द की, निकसी कंचन खानि।।

---

१. *जो लोहरा को बामन कहिये, काको कहिये कसाई।*
*जो बामन तुम बामनी जाये।*
*और मारग काहे नहिं आये।। (आदि अनेक कथन)*

२. *तीर तुपक से जो लड़ै, सो तो सूर न होय।*
*माया तजि भक्ती करै, सूर कहावै सोय।।*
*साँई मेरा बानिया, सहज करै ब्योपार।*
*बिन डाँडी, बिन पालरे, तोलै सब संसार।।*

(च) पंडित और मसालची, दोनों सूझै नाँहि।
औरन को कर चाँदना, आप अँधेरे माँहि॥

इन स्थलों पर साहित्यिक सौन्दर्य तो है नहीं परन्तु अपने प्राकृत रूप में ही यह सामग्री पाठक के मन पर प्रभाव डालती है; नित्य-प्रति की वस्तुओं के प्रति हमारे मन में एक प्रच्छन्न मोह होता है; साथ ही जिस व्यापार से हम सुपरिचित होते हैं उसका रहस्य हमारे मन में बठ भी जाता है। पंडित और मसालची की तुलना मे एक तो 'मसालची' शब्द में ही व्यंग्य है 'ची' प्रत्यय 'बाज़' प्रत्यय की तरह (दे० अफीमची, तबलची, गुलफेबाज़, दगाबाज़ आदि) बुरे गुण के अधिकार में प्रयुक्त होता है, अतः 'मसालची' शब्द को सुनते ही हमारा ध्यान उन निरीह 'दीवटों' की ओर जाता है जो प्रकाश-स्तम्भ को अपने सिर पर धारण करके, उसके बोझ से दबते हुए, सजीव होकर भी निर्जीव के समान केवल उस स्तम्भ को टेकने के चलते-फिरते आधार-मात्र बनकर दूसरे की 'रोशनी' में योग देते हैं। 'मसालची' 'टॉर्च-बियरर' नहीं है जो प्रकाश दिखला सके, वह तो साधन बना हुआ स्तम्भ है—जितना लम्बा उतना ही अधिक लाभदायक, उससे प्राय 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' नहीं कहते बल्कि उसको अपने संकेत पर नचाते हैं। कबीर ने उपनिषद् के उस वाक्य पर कैसा असांस्कृतिक व्यंग्य किया है, यह उनकी प्रतिभा और क्षोभ दोनो का ही द्योतक है, 'दीपक तले अँधेरा' वाली कहावत सत्य होते हुए भी ससार की सभी संस्कृतियाँ तो प्रकाश का उल्लासपूर्वक स्वागत करती हैं, फिर ज्ञानी पण्डितों की इस भर्त्सना का क्या अर्थ ! और उपनिषद् पर इस व्यंग्य मे कौनसी उदारता !!

अब कबीर जी के समाज के गुणों को भी देख लीजिए। शिष्यों में जो विशेषताएँ उनको बार-बार दिखाई पड़ रही थीं उनके एक बार ही निवारण का उपदेश इन शब्दों में है—

जुआ, चोरी, मुखबिरी, ब्याज, घूस, पर-नार।
जो चाहै दीदार को, एती वस्तु निवार॥

कबीर के समय मे वाममार्गों छाया मे सोता हुआ यह समाज जिन दुर्गुणों को अपने जीवन का अंग बना चुका था उनके निवारण का उपदेश इस प्रकार की शब्दावली में अनेक स्थानो पर मिलता है, संभव है ये दुर्गुण किसी न किसी मात्रा में अभिजात-वर्ग मे भी रहे हों परन्तु कबीर उस वर्ग के तो अहंकार और आडम्बर की ही चर्चा करते हैं। परकीया का उस युग में वामाचारियों ने बड़ा प्रचार कर रखा था, कबीर इसीलिए सबसे अधिक बल इसी अवैध सम्बन्ध के त्याग पर देते हैं और शिष्यों के मन में परकीया-त्याग की भावना को बैठाने के लिए उन्होंने इतिहास के सबसे प्रसिद्ध दृष्टान्त का उपयोग किया है—

पर-नारी पैनी छुरी, मति कोऊ लावो अंग।
रावन के दस सिर कटे, पर-नारी के संग॥

परकीया के प्रति घृणा उत्पन्न करते-करते वे नारी-मात्र का तिरस्कार करने

करते हैं (ध्यान रखना होगा कि परकीया-गमन हिन्दू-समाज में नितान्त त्याज्य घोषित किया गया है, इसीलिए इतिहास के किसी भी काल में परकीया-गमन अभिजात-वर्ग ने स्वीकार नहीं किया; परन्तु धर्म के आवरण में हीन जनता इसको व्यवहार के उपदेश से अपना चुकी थी, कबीर अपने शिष्यों क[illegible] [illegible] से [illegible] करते थे, उनकी दृष्टि में अभिजात-वर्ग तो कदापि[1] नही

(क) छोटी-मोटी कामिनी, सब ही विष की बेलि।
बैरी मारे दाँव धरि, यह मारे हँसि-खेलि॥
(ख) नारि बोलि को मंत्र है, माहुर भारे जात।
बिकट नारि पाले परो, काटि कलेजा खात॥

इसके साथ ही कबीर ने नारी को भी उपदेश दिया कि तुमको एक पुरुष द्वारा घोषित रहना चाहिए, तुम मैली रहती हो, या दीन-हीन हो इससे कोई [illegible] नहीं आता; यदि तुम पतिव्रता हो तो दीनता में भी तुम आदरणीय[2] हो, इस प्रकार की आशाएँ[3] छोड़कर पति पर विश्वास[4] करती हुई तुम आठ-पहर [illegible]

---

१. स्त्री-पुरुष के जिस सम्बन्ध का कबीर में संकेत है वह अभिजात-वर्ग में [illegible] स्वीकार नहीं किया गया। प्रमाणस्वरूप निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—

(क) तेरह दिन तक तिरिया रोवै, फेर करै घर-बासा।
(द्विजों में न तो विधवा-विवाह होता है, और न कोई स्त्री किसी दूस[रे] पुरुष का घर बसा सकती है इतर जातियों में आज भी 'घर बसाने' [की] प्रथा पाई जाती है।)

(ख) राम मोर बड़ा, मैं तन की लहुरिया।
(यह असम विवाह इतर जातियों में प्रचलित ही था।)

(ग) धन भई बारी, पुरुष भये भोला, सुरत झकोरा खाय।
(यह भी अनमेल विवाह का परिणाम है।)

(घ) बिछुआ पहिरिन, पौंआ पहिरिन, लात खसम के मारिन जाय।
('खसम' शब्द 'पति' का पर्यायवाची नहीं, उससे कुछ कम का द्योतक है, संस्कार के बिना किसी स्त्री के साथ घर बसाने वाले काम चलाऊ पुरुष को खसम कहते हैं। लात मारना भी पतिव्रता के लिए असंभव है।)

(ङ) घो मथन गयल मोर कजल देत।
औ मयस मथन पर-पुरुष मेत॥
(यह व्यभिचार-व्रत भी द्विज-जाति में अस्वीकृत है।)

पतिवरता मैली भली, गले काँच की पोत।
[illegible] में यों दिपै, ज्यों रवि ससि की ज्योति॥
तो साईं भजे, तजै आन की आस॥
[illegible] को भजै, पति पर धरि विश्वास॥

घड़ी[1] अपने पति का ही ध्यान करो। यदि तुम ऐसी बन गई तो पति से कह सकोगी कि मैं किसी अन्य को नहीं देखती तुमको भी दूसरी को न देखने दूँगी[2], और तब तुमको रंडा[3] का-सा जीवन न बिताना पड़ेगा, तुम्हारा पति तुम्हारे लिए कमाकर तुमको देगा। इन उपदेशों के साथ-साथ कबीर ने दुर्गुणों के उदात्तीकरण का भी प्रयत्न किया है, लुटेरे से वे बोले—भाई लुटेरे, अगर तुम लूट सकते हो तो राम-नाम को क्यों नहीं लूटते[4], अगर तुम लापरवाही से दूसरी चीजों की ही लूट करते रहे तो पीछे पछिताना होगा। कबीर की नायिका अपने यार[5] से मिलने में इसलिए सकुचाती है कि वह मैली है, बुरा काम करते हुए उसके मन में भय नहीं उत्पन्न होता।

कबीर का समाज सामान्य से कुछ कम ही था; वे नगर, ऐश्वर्य, संस्कृति तथा सौन्दर्य का चित्र न अंकित कर सके; राग-रंग को देखकर उनके मुख से आह[6] ही निकलती है। प्रकृति भी इस कवि को आकृष्ट न कर सकी, वृक्ष है तो खजूर[7], और उपवन में सौरभ-मदमाता पुष्पदल नहीं प्रत्युत धकाकुल[8] कली है, कोयल[9] का शब्द कवि के मन में कोई भाव नहीं जगाता; न पावस की घनघोर घटा है न शरद का चन्द्रातप, सारा वन उनको जलता हुआ-सा[10] लगता है। घरेलू जीवन में कबीर का मन अवश्य लगा है और चक्की-चूल्हे की बातें उनकी कविता में अप्रस्तुत बनकर आ गई हैं; कहीं चींटी चावल[11] ले जा रही है, तो कहीं किसी के उपदेश में कुत्ते का भौंकना[12] सुनाई पड़ता है। वर्षा में जलनेवाली गीली लकड़ी[13],

---

१. आठ पहर चौंसठ घड़ी, मेरे और न कोय ॥
२. ना मैं देखौं और को, ना तोहि देखन देंउ ॥
३. सती न पीसैं पीसना, जो पीसैं सो रांड ॥
४. राम नाम की लूटि है, लूटि सकै तो लूटि।
अन्त काल पछितायगा, जब प्रान जायगा छूटि ॥
५. यार बुलावै भाव सौं, मो पै गया न जाय।
धनि मैली पिउ ऊजला, लागि न सकौं पाय ॥
६. पाँचों नौबत बाजती, होत छतीसौं राग।
सो मंदिर खाली पड़ा, बैठन लागे काग ॥
७. बड़ा हुआ, तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर ॥
८. माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकार।
फूली-फूली चुनि लिए, काल्हि हमारी बार ॥
९. आम की डार कोइलिया बोलै, सुवना बोलै वन में ॥
१०. दव की दाही लाकड़ी, ठाढ़ी करै पुकार ॥
११. चींटी चावल लै चली, बिच में मिलि गइ दार ॥
१२. कूकर ज्यों भूँकत फिरैं, सुनी सुनाई बात ॥
१३ बिरहिन ओदी लाकड़ी, सपचे औ धुँधुआय ॥

से बोले—'सुना है, भाई, कि पत्थर की मूर्ति पूजने से ईश्वर मिल जाता है। यदि यह ठीक है तो आज से मैं भी पत्थर पूजा करूँगा—मैं एक बड़े से पहाड़[1] को पूजूँगा जिससे कि ईश्वर और भी शीघ्र प्राप्त हो जाय'। यह पत्थर पूजने पर एक व्यंग्य था, पत्थर के गुण (बड़ा-छोटा, अच्छा-बुरा) से उपासक सोचने लग गया, उसके मन की श्रद्धा कपूर बन गई। यही कबीर का उद्देश्य था, उन्होंने भक्त को सोचने का कुछ अवसर दिया, स्वयं भी मानो कुछ सोचने लगे मन्द-मन्द मुसकान के साथ, और फिर बोले—"संसार कितना भोला है, बाहर पत्थर पूजने जाता है, घर की उस चक्की[2] को क्यों नहीं पूजता जो खाने का अन्न पीसती है—वह भी पत्थर है और बड़ा उपकारी"। व्यंग्य की यह शैली सिद्धों और नाथों में तो प्रचलित थी ही, कर्मकाण्ड का विरोध उनसे पूर्व भी होता था, सम्भव है कबीर को ये चुटकियाँ परम्परा से ही प्राप्त हुई हों—

(क) नाम न रटा तो क्या हुआ, जो अन्तर है हेत।
पतिबरता पति को भजे, मुख से नाम न लेत॥

(ख) मूँड मुड़ाए हरि मिलें, सब कोइ लेहि मुँडाय।
बार-बार के मूँड़ते, भेड़ न बैकुंठ जाय॥

(ग) न्हाए धोए क्या भया, जो मन मैल न जाय।
मीन सदा जल में रहै, धोए बास न जाय॥

(घ) पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय॥

(ङ) आसन मारे क्या भया, मुई न मन की आस॥

यद्यपि कबीर को शब्दों की खिलवाड़ से प्रेम न था फिर भी जब वे देखते कि थोड़ा-सा खेल उनके प्रचार में समर्थ हो सकेगा तो अवसर को हाथ से जाने न देते थे; साखियों में इस प्रकार के कतिपय सुन्दर उदाहरण हैं—

(क) माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुवाँ तो दस दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि॥

(ख) करका मनका छोड़ के, मन का मनका फेरि॥

(ग) तिन का तिनका से मिला, तिन का तिनके पास॥

(घ) घर को नारी को कहै, तन की नारी नाँहि॥

(ङ) कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर-पीर॥

स्वाभाविक एवं सशक्त अभिव्यक्ति के लिए कबीर ने जिस अप्रस्तुत सामग्री का चयन किया है वह शास्त्रीय दृष्टि से अधिक उपयुक्त न भी हो परन्तु उससे यह सिद्ध अवश्य होता है कि रूप-रंग तथा गुण के सादृश्य के बिना भी

---

१. पाहन पूजत हरि मिलें, तो मैं पूजूँ पहाड़।

२. दुनिया ऐसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।
घर की चकिया कोई न पूजै, जेहि का पीसा खाय॥

प्रभाव-साम्य तुलना की मनोहर सामग्री प्रदान कर सकता है। निम्नलिखित उदाहरण हमारे अभिप्राय को स्पष्ट कर सकेंगे—

(क) तंबोली के पान ज्यूँ, दिन-दिन पीला होय।
(ख) फाटा फटिक पषांण ज्यों, मिला न दूजी बार।।
(ग) काल खड़ा सिर ऊपरै, ज्यौं तोरण आया बींद।।
(घ) काल अच्यंता झड़पसी, ज्यों तीतर को बाज।।
(ङ) यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।।
(च) रंचक पवन के लागते, उठै नाग-से जागि।।

*तम्बोली के पान और राम-वियोगी में रूप-रंग तथा गुण का तो कोई साम्य नहीं* परन्तु परिपाक दोनों का एक ही होता है—पीला पड़कर नष्ट हो जाना। स्फटिक पाषाण तथा मन, काल तथा वर, काल तथा बाज, संसार तथा कागज की पुड़िया और नाग तथा बनावटी साधु में रूप-रंग का साम्य नहीं परन्तु गुण-साम्य तथा *परिपाक-साम्य है। कवि का उद्देश्य उस गुण की ओर ध्यान आकृष्ट करना भी* है जिसके लिए अप्रस्तुत-वस्तु जगत् में प्रसिद्ध है। काल को एक स्थान पर बाज के समान भयानक तथा हिंसक बताया गया है दूसरे स्थान पर वर के समान पूर्णता प्राप्त कराने वाला अनन्य आधार; कवि का उद्देश्य एक स्थान पर बाज के समान त्वरित तथा प्रबल कहकर साथ ही काल को दुलहा के समान प्यार करने वाला अनन्य आधार भी बतलाना है। कबीर एक स्थान पर पर-नारी प्रेम को लहसुन के समान कहते हैं, उसके आरोग्यप्रद गुणों को दृष्टि में रखकर नहीं, *प्रत्युत उसकी अवश्य फैलने वाली गन्ध की ओर संकेत करके—आप भरसक* बचाइए, वह संसार को निश्चय ही प्रगट हो जायगा—

पर-नारी को राचणौ, ज्यौं लहसुण की खानि।।
खूँणें बैसि रखाइए, परगट होइ दिवानि।।

---

---

# ८ | कबीर और बौद्धमत

सामाजिक जीवन को सुखी बनाने के लिए मनीषी जिन बन्धनों का विधान कर देते हैं वे कुछ समय तक तो प्रथाओं के रूप में समाज में व्यवस्था रखते हैं, पश्चात् जब उनके आधार एवं स्वरूप वैज्ञानिक बन जाते हैं तो वे विधान 'धर्म-शास्त्र' का रूप ग्रहण कर लिया करते हैं। परन्तु समाज प्रगतिशील है, वह उन्हीं नियमों से सदा जकड़ा नहीं रह सकता; तथा शताब्दियों तक धूप और वर्षा सहते-सहते मानो रक्त-मांस क्षरित हो जाने पर वृद्ध विधानों का जर्जर कलेवर-मात्र ही शेष रह जाता है। इसलिए कालान्तर में 'धर्म' और 'व्यवहार', विधान और आचरण, के बीच एक गहरी खाई दिखलाई पड़ने लगती है। यही सामाजिक उथल-पुथल, सुधार अथवा क्रान्ति का अवसर है। 'जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नवीन वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीरों को त्यागकर नवीन शरीर ग्रहण कर लेता है।' परन्तु धर्म (सत्य) सविता के समान, स्थिर है; उससे विकरित होने वाली किरणें समाज के युग-विशेष को कैसा प्रभावित करेंगी यह भूमण्डल के समान गतिशील समाज की उस समय की स्थिति पर निर्भर है; सूर्य न केवल ऋतु एवं काल का नियामक है प्रत्युत युग-विशेष में देश-विशेष की शीतोष्ण-मात्रा एवं तज्जन्य जलवायु, वनस्पति, मानव-जीवन आदि को भी अधिकृत रखता है।

हमारे सांस्कृतिक जीवन में इस नैसर्गिक परिवर्तन के कतिपय अवसर आए हैं। इतिहास की स्मृति में सामाजिक क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण अवसर विक्रम से अढ़ाई सहस्राब्दी पूर्व आया था। वह समाज-सागर का एक ज्वार था जिसने विधान की शास्त्रीय रज्जुओं को शिथिल कर दिया और अस्त-व्यस्त जीवन को पुनर्व्यवस्था के लिए बाध्य किया। अनिवार्य व्यावहारिकता की यह शास्त्रजीवी पंडितों के लिए एक कड़ी चेतावनी थी; इसने जनता को आकृष्ट किया, भूपाल एवं श्रेष्ठियों का सहयोग प्राप्त किया, और समस्त जम्बुद्वीप को अपनी किरणों से आलोकित करके मानव-जाति का पथ-प्रदर्शन किया। इतिहास में इसको 'बौद्ध-धर्म' नाम दिया गया है; मानव को, 'धर्म' एवं 'शील' से गुंफ-

हित, समाज पर ले आने के लिए इनके 'ज्ञान' मात्र भी अन्तर्मुखीन दिखाई पड़ रहे हैं।

समाज-सिन्धु में दूसरा ज्वार मत्स्येन्द्र की मनोविकारों से उन्मथित होकर आया था जब 'शून्य' में भटकने वाले समाज को आत्मविश्वास तो शंकराचार्य के प्रयत्न से सुलभ हो गया परन्तु विदेशियों के ध्वंसकारी आक्रमण राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन को ध्वस्त कर रहे थे। वैचारिक धरातल पर समाज आत्मनाश-जन्य आनन्द से उन्मथित था, व्यवहार में जनता टूटती और दबती जा रही थी। सन्तों ने सामयिक स्थिति को समझा और आश्रयहीन जनता को स्थायी आधार प्रदान करने का प्रयास किया। शास्त्र, परम्परा एवं काल्पनिक धारणों की खाई हट गई और सामयिक, व्यावहारिक एवं यथार्थ जीवन जनता के सामने घूमने लगा। समस्त देश में इस प्रकार के स्थानीय आन्दोलन हुए जिन्होंने 'कथनी' एवं 'करनी' के भेद को अस्वीकार किया, परम्परावादियों को चुनौती दी, आडम्बरों का त्याग कर दिया तथा ईश्वर में दृढ़ आस्था प्रकट की। हिन्दी-साहित्य में इन साधकों को 'सन्त' अथवा 'निर्गुणी' और इनके आन्दोलन को 'सन्तमत' अथवा 'निर्गुण सम्प्रदाय' नाम दिया गया है। कबीर इस आन्दोलन के शिरोमणि नेता थे।

सामान्य दृष्टिपात से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धमत एवं सन्तमत में अनेक प्रकार का साम्य है; विद्वानों ने इनकी तात्त्विक समता एवं बाह्य एकरूपता दोनों पर विचार भी किया है। दोनों का जन्म विचार एवं आचार की घोर विषमता के कारण हुआ था। दोनों ने अपनी विचार-प्रणाली शास्त्र के विरोध में व्यक्ति (व्यक्तियों) पर केन्द्रित की है। दोनों ने परम्परा के परिच्छद को फेंकने का पूरा प्रयास किया है। दोनों संस्कृति के सारस्वत रूप वेदादि के विरोधी थे। संस्कृत के स्थान पर 'प्राकृत' भाषा को इनके माध्यम बनने का अवसर मिला—बौद्धमत ने 'पाली' प्राकृत को अपनाया, सन्तमत ने 'भाषा' प्राकृत को। जन्मजात महत्ता का इनमें समान विरोध है—पौरुष को महत्त्व देते हुए नहीं, प्रत्युत प्रामाण्य को खण्डित करने के लिए। इन आन्दोलनों की सफलता वैयक्तिक सम्पर्क पर निर्भर थी, मौखिक उपदेशों के द्वारा इनका प्रसार हुआ, शास्त्र-निर्माण इनमें बहुत पीछे हो सका। प्रारम्भ में गौतम केवल पुरुषों को उपदेश देना चाहते थे, परन्तु आगे चलकर स्त्रियाँ भी संघ में सम्मिलित की गईं; मूलतः बौद्धमत भिक्षुओं के लिए था और सन्तमत साधकों के लिए। जिस प्रकार 'बौद्धमत' नाम से एक ही प्रकार की प्रणाली का बोध नहीं होता, उसी प्रकार 'सन्तमत' में कबीरपन्थी से लेकर राधास्वामी तक सब समा जाते हैं। गौतम का व्यक्तिगत प्रभाव इतना अधिक था कि उनके अनुयायी राजा-महाराजा तक हुए और विदेश में भी उनके मत का स्थायी प्रभाव पड़ सका। सन्तमत इस विशेषता से वंचित था और उसमें सरलता का जितना आकर्षण है उतना ध्वंसजन्य विकर्षण भी है।

गौतम तथा कबीर के सिद्धान्तों में भी आधारभूत समानता है। दोनों ने

गौतम के मन में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने के लिए, उनके मन से मोह की जड़ को धीरे-धीरे हिला देने के लिए, उनके मार्ग में वृद्ध, रोगी, मृत तथा प्रव्रजित को भेजा और किशोर-हृदय की कोमल वृत्तियां इन सबकी ओर उन्मुख हुईं। ये चार अनुभव ही गौतम के दर्शन का आधार हैं। प्रथम तीन के सम्पर्क से उनको यह ज्ञान हुआ कि संसार दुःखमय है; जो सुखमय, आकर्षक अथवा मनोभिराम दिखलाई पड़ रहा है वह सम्पर्क के अभाव, अनुभव की न्यूनता अथवा अज्ञान के कारण। अन्तिम अनुभव से उनको यह प्रकाश मिला कि दुःख से छुटकारा पाने का एकमात्र मार्ग संन्यास है। "दो ही वस्तुएं, भिक्षुओ, मैं सिखाता हूँ—दुःख और दुःख से मुक्ति" (संयुक्त निकाय)। बुद्ध-दर्शन के आधार 'चार आर्य सत्य'[1] हैं, और उनमें सर्वप्रथम आर्यसत्य 'दुःखसत्य' है। जन्म भी दुःख है, वृद्धावस्था भी दुःख है, मरण भी दुःख है, शोक-परिदेवन-दौर्मनस्य-उपायास भी दुःख हैं; अप्रिय का योग दुःख है, प्रिय का वियोग दुःख है; इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है[2]। समस्त सन्त-दर्शन दुःखवाद में इतना ही अटूट[3] विश्वास रखता है और कबीर के दुःख के रूप वे ही हैं जो गौतम के थे। एक दोहे मे वे कहते हैं—

> कबिरा मैं तो तब डरों, जो मुझ ही में होइ।
> मीचु, बुढ़ापा, आपदा, सब काहू पै सोइ ॥

दोहे के अन्तिम (चतुर्थ) चरण में दुःख की मुख्य सर्वव्यापकता अर्थात् 'प्रथम आर्यसत्यत्व' सिद्ध किया गया है और तृतीय चरण मे उस आर्यसत्य (=दुःख) के तीन रूप बतलाये हैं—मृत्यु (मीचु), जरा (बुढ़ापा) तथा रोगादि (आपदा)। गौतम का क्रम है जरा—मरण—शोक, परन्तु कबीर का क्रम है मीचु—बुढ़ापा—आपदा; कुमार सिद्धार्थ के तीन अनुभव ही कबीर के दुःख-रूप हैं।

दुःखसत्य का विवेचन करने के उपरान्त बुद्ध ने 'द्वितीय आर्यसत्य' 'दुःख-समुदय' (=दुःखहेतु) की विवेचना की है। दुःख का समुदय तृष्णा है, जो फिर-फिर जन्म का कारण है, जो लोभ तथा राग से युक्त है, जो कहीं-कहीं सुख देती

---

१. दुक्खं अरियसच्चं। दुक्खसमुदयं अरियसच्चं। दुक्खनिरोधं अरियसच्चं। दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं। (संयुत्तनिकायो, सच्चसयुत्त, दुतिय कुल पुत्त सुत्तं)

२. दुक्खं अरियसच्चं। जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोक-परिदेव-दोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, संखित्तेन पञ्चुपादान-क्खन्धापि दुक्खा।

३. सुनलो पलटू भेद यह, हँसि बोले भगवान्।
दुःख के भीतर मुकति है, सुख में नरक निदान ॥

है; 'तृष्णा तीन प्रकार की है—काम-तृष्णा, भव-तृष्णा, विभव-तृष्णा।[1] कबीरने भी विश्वव्यापी दुःख का कारण तृष्णा (आशारूपिणी तृष्णा)[2] को ही माना है—

जो देखा सो दुखिया देखा, तन धर सुखिया कोई न देखा।
जोगी दुखिया, जंगम दुखिया, तापस को दुःख दूना।
आशा-तृष्णा सब घट व्यापे, कोई महल नहिं सूना ॥

'संसार में जो प्रियकर हैं, वहीं यह तृष्णा उत्पन्न होती है; मन के विषय प्रियकर हैं; इन्हीं में तृष्णा उत्पन्न होती है और अपना घर बनाती है।' व्यावहारिक दृष्टि से तृष्णा आशारूपिणी ही है, जहाँ नैराश्य है, वहीं परम सुख है (नैराश्यं परमं सुखम्)। कामतृष्णा के कबीर ने दो रूप माने हैं—'कामिनी'[3] तथा 'कनक'[3]। ये व्यावहारिक आधार हैं, तृष्णा के दार्शनिक रूप नहीं। कनक तो कदाचित् एषणा के अन्तर्गत आयेगा, तृष्णा का रूप बनकर नहीं। फिर भी अनेक संस्कृतियाँ कनक और कामिनी को मन का मुख्य प्रलोभन मानती हैं—'वैल्थ एण्ड वीमन' तथा 'जर और जोरू' पद इसके प्रमाण हैं। कनक और कामिनी में से कामिनी का बन्धन दृढ़तर है, समस्त भक्ति-साहित्य यही घोषित कर रहा है। कबीर ने नारी को 'बड़ा विकार' माना है और उसकी छाया तथा धूलि से भी बचने का उपदेश दिया है—

जहाँ जराई कामिनी, तू जनि जाइ कबीर।
उड़ि के धूलि जो लागसी, मैला होइ सरीर ॥

दुःख-निरोध तृतीय आर्यसत्य है। उसी तृष्णा से अशेष वैराग्य, उस तृष्णा का निरोध, त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनासक्ति[5]—दुःख-निरोध के विषय में यही आर्यसत्य है। मनुष्य तृष्णा के कारण दुःख भोगता है और तृष्णा का क्षय करके मनुष्य ही दुःख का नाश कर सकता है। तृष्णा के 'सम्पूर्ण निरोध' से उपादान निरुद्ध हो जाता है, उपादान से भव निरुद्ध होता है, भव से जन्म;

---

१. दुक्ख समुदयं अरियसच्चं। योयं तण्हा पोनब्भविका, नन्दिराग सहगता, तत्र तत्राभिनन्दिनी; सेयमीदं कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा ॥
२. माया मुई न मन मुआ, मरि-मरि गये सरीर।
आसा-तृस्ना नां मुई, कहि गया दास कबीर ॥
३. एक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय।
४. तुलना कीजिए—न तं दल्हं बन्धनमाहु धीरा।
यदायसं दारुजं बब्बजञ्च।
सारत्तरत्ता मणिकुण्डलेसु,
पुत्तेसु दारेसु च या अपेक्खा ॥ धम्मपद ॥
५. दुक्खनिरोधं अरियसच्चं। सो तस्सायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो, चागो पटिनिस्सग्गो मुत्ति अनालयो ॥

जन्मनिरोध से जरा, मरण, शोक आदि सबका निरोध हो जाता है। कबीर ने अनेक स्थानों पर आशा-तृष्णा के निरोध के लिए मन को मारने की बात कही है, उनके काव्य में 'अशेष विराग' का भी उपदेश है—

(क) माया मुई न मन मुआ, मरि मरि गये सरीर।
आसा-तृस्ना नां मुई, कहि गया दास कबीर॥

(ख) माता-पिता, बंधु, सुत, तिरिया संग नहीं कोइ जाइ सका रे।
जब लगि जीवे, हरि-गुन गा ले, जन-जोबन है दिन दस का रे।
चौरासी जो तरना चाहे, छोड़ कामिनी का चसका रे।

चतुर्थ एवं अन्तिम आर्यसत्य दु:ख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा[1] (=दु:ख-निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग) है। यह जो कामोपभोग का हीन, अनार्य अनर्थकर जीवन है और यह जो अपने शरीर को व्यर्थ क्लेश देने का दु:खमय, अनार्य अनर्थकर जीवन है, इन दोनों किनारों से बचकर मध्यम मार्ग प्राप्त होता है जो शमन के लिए, बोध के लिए, निर्वाण के लिए है। इसी को 'अष्टांगिक मार्ग'[2] और इसी को 'मध्यमा प्रतिपदा' कहते हैं।

'मध्यमा प्रतिपदा' बौद्धमत की सबसे बड़ी उपलब्धि है। राजकुमार सिद्धार्थ जीवन का सब सुख भोग चुके थे और विरक्त होकर तप द्वारा अपने शरीर को सुखा भी चुके थे। दोनों अतियों के उपरान्त उनको बोध हुआ कि दोनों अतियाँ असेवनीय हैं, मध्यमा प्रतिपदा[3] ही ज्ञान, शान्ति एवं निर्वाण का एकमात्र मार्ग है। मध्यम मार्ग अत्यन्त उदार एवं सन्तुलित है; इसको समझौता मात्र न समझ लेना चाहिए। 'अति' से तंग आकर जो मार्ग निकाला जाता है वह भी कालान्तर में अति-गामी बन जाता है, इसीलिए 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'[4] का उपदेश दिया गया है। मनोविज्ञान तथा आचारशास्त्र दोनों ही दृष्टियों से 'अति' त्याज्य है। पश्चिम के एक आचारशास्त्री बे्डले का मत है कि जो व्यक्ति अपने समाज से नितान्त भिन्न एवं उच्च आचार का दावा करता है वह अनाचार की देहली पर खड़ा है। 'अति सुन्दर बनाने के लोभ में प्राय: वस्तु को बीभत्स बना दिया जाता है।···और देखो धर्म पाप बनता जा रहा है।'[5] सन्तों ने सर्वत्र मध्यम मार्ग

---

दुक्खनिरोध गामिनी पटिपदा अरियसच्चं।

सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि।

द्वे भिक्खवे अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा।—एते खो भिक्खवे उभे अन्ते अनुपगम्य मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बाणं संवत्तति॥

अतिरूपेण वै सीता, अतिगर्वेण रावण:।
अति दानेन बलिर्बद्धो, अति सर्वत्र वर्जयेत्॥

जयशंकर प्रसाद : इरावती।

का व्यावहारिक उपदेश दिया है। कबीर कहते हैं—

> अति का भला न बोलना, अति का भला न चूप॥
> अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप॥

अष्टांगिक मार्ग 'मध्यमा प्रतिपदा' का स्वाभाविक रूप है। अष्टांगिक मार्ग के न जाने कितने उपदेश सन्त-साहित्य में फैले हुए हैं; क्योंकि भारतीय सदाचार-नीति का यह सुविचारित एवं स्वयंगृहीत मार्ग है। सदाचार-संहिता जिन बातों का प्रचार कर रही थी उनको समझकर ग्रहण करने का संकेत अष्टांगिक मार्ग में है। कबीर की साखियाँ इसी कारण जनता में लोकप्रिय हो सकीं। सम्यक् दृष्टि तथा सम्यक् संकल्प का सम्बन्ध 'प्रज्ञा' से है। दुराचरण एवं उसके मूल कारण तथा सदाचरण एवं उसके मूल कारण की पहचान सम्यक् दृष्टि है; सम्यक् दृष्टि से सम्यक् संकल्प को आधार मिलता है। संसार में दुःख और सुख परिस्थिति पर भी निर्भर हैं तथा भोक्ता की दृष्टि पर भी; दु.ख-भोग उतना कष्टकर नहीं जितना कि यह विचार कि मैं दुःख भोग रहा हूँ; इसीलिए सहानुभूति प्रदर्शित करने वाले प्रायः हमको अधिक दुःखी बनाकर चले जाते हैं। जो प्रज्ञावान् (सम्यक् दृष्टि एवं सम्यक् संकल्पयुक्त) नहीं है "वह जिन बातों को मन में स्थान नहीं देना चाहिए उन बातों को मन में स्थान देता है, और जिन बातों को मन में स्थान देना चाहिए उनको मन में स्थान नहीं देता।" (बुद्ध-वचन'—संग्रहकर्त्ता महास्थविर ज्ञानातिलोक)। संसार में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो सदा रोते ही रहते हैं अपने दुर्भाग्य पर, अपनी परिस्थितियों पर; ऐसे लोग रोते ही रहेंगे; जो सम्यक् दृष्टियुक्त[1] ज्ञानी है वह अपने भाग्य एवं परिस्थितियों का विश्लेषण करता है, समझता है और फिर समझकर भोगता है—वह दु.ख नहीं भोगता, वह परिस्थितियों को भोगता है (जो दु.ख-सुखरहित हैं)—

> देह धरे का दण्ड है, सब काहू पै होय,
> ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय॥

सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त तथा सम्यक् आजीविका का सम्बन्ध शील से है। प्रज्ञा की परीक्षा शील से ही होती है; प्रज्ञा और शील की दूरी जीवन की व्यवस्था का परिहास है। यदि सम्यक् दृष्टि एवं सम्यक् संकल्प प्राप्त है तो उनकी अभिव्यक्ति सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त एवं सम्यक् आजीविका में होनी ही चाहिए। कबीर ने 'कथनी' और 'करनी' के भेद की कटु आलोचना की है; दूसरे को उपदेश करना सुगम है, स्वयं आचरण करना कठिन; जब उपदेश को त्याग कर आचरण किया जाता है, तभी समाज में सुख-वर्षा होती है—

---

१. "टु मेक अवरसेल्वज हैपी ऑल दैट इज नैसेसरी इज टु मेक अवरसेल्वज ए न्यू हार्ट एण्ड सी विद न्यू आईज।"
— (एस० राधाकृष्णन—'गौतम, द बुद्ध')।

कथनी मीठी खांड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तजि करनी करें, विष तें अमृत होय॥

सम्यक् वाणी का उपदेश सभी भक्तों ने दिया है; सन्त-समाज इसका आग्रह करता है। कबीर में सम्यक् वाणी के अनेक एवं सुन्दर उदाहरण पाए जाते हैं—

(क) शब्द सम्हारे बोलिये, शब्द के हाथ न पाँव।
एक शब्द औषधि करे, एक शब्द करे घाव॥

(ख) ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को शीतल करै, आपहु शीतल होय॥

सम्यक् कर्मान्त (कर्म) की चर्चा 'कथनी' और 'करनी' की एकरूपता के प्रसंग में आ गई है। तथागत ने 'कर्मान्त' के अन्तर्गत अहिंसा, अस्तेय तथा इन्द्रिय-निग्रह पर बल दिया है। कबीर की साखियाँ इनके उपदेशों से भरी पड़ी हैं। एक दोहे में वह सम्यक् कर्म के लिए त्याज्य कुकर्मों को गिना देते हैं—

जुआ, चोरी, मुखबिरी, ब्याज, घूस, पर-नार।
जो चाहै दीदार को, एती वस्तु निवार॥

इस साखी में सम्यक् आजीविका के भी अंग आ गये हैं। विशेष रूप से 'ब्याज' खाने के निषेध पर ध्यान देना चाहिए। गौतम ने मिथ्या-आजीविका के वर्जन पर बल दिया है और पाँच व्यापारों का निषेध किया है—'शास्त्रों का व्यापार, पशुओं का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य का व्यापार तथा विष का व्यापार।' कबीर अपरिग्रह को धार्मिक जीवन का सार घोषित करते हैं—

साँई इतना दीजिए, जा मैं कुटुम समाइ।
मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाइ॥

अष्टांगिक मार्ग के अन्तिम तीन अंग हैं—सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। सम्यक् प्रयत्न को सम्यक् व्यायाम कहते हैं। अकुशल भाव का वर्जन, अकुशल भाव का त्याग, कुशल भाव का समावेश तथा कुशल भाव का रक्षण। वे चार रूप सम्यक् व्यायाम (=प्रयत्न) के हैं। सदाचार की साखियों में इन चारों रूपों के उदाहरण मिल जाते हैं। सम्यक् स्मृति के चार स्मृति-उपस्थान हैं जो साधु को कायानुपश्यी, वेदनानुपश्यी, चित्तानुपश्यी तथा धर्मानुपश्यी बनाते हैं। कायानुपश्यी (अर्थात् "पैर के तलवे से ऊपर, केश मस्तक के नीचे, त्वचा से घिरे हुए, इस काया को नाना प्रकार की गन्दगी से पूर्ण" देखने का अभ्यास) धर्म की सामग्री कबीर में पर्याप्त है—

हाड़ जले ज्यों लाकड़ी, केस जरे ज्यों घास।
सब तन जलता देख करि, भया कबीर उदास॥

सम्यक् समाधि के भी उदाहरण कबीर के काव्य मे पाए जाते हैं, यथा तृतीय ध्यान 'उपेक्षावान् स्मृतिवान् होकर सुखपूर्वक विहार की निम्नलिखित प्रसिद्ध साखी—

मैं भमरा तोहि बरजिया, बन-बन बास न लेइ।
अटकेगा काहू बेलि से, तड़पि तड़पि जिय देइ ॥

सभी साधनाओं का लक्ष्य 'निर्वाण' है। "जिस प्रकार भिक्षुओ, तेल के रहने से, बत्ती के रहने से, दीपक जलता है, और तेल तथा बत्ती के समाप्त हो जाने तथा दूसरी (तेल-बत्ती) के न रहने से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार भिक्षुओ, शरीर छूटने पर मरने के पश्चात्, जीवन के परे, अनासक्त रहकर अनुभव की गई ये वेदनाएँ यहीं ठण्डी पड़ जाती हैं" (बुद्ध-वचन)। कबीर ने इसी प्रकार के दृष्टान्त का उपयोग मोक्ष-प्रतिपादन के लिए किया है—

(क) दीपक दीया तेल भरि बाती दई अघट्ट।
पूरा कीया बिसाहूणाँ, बहुरि न आवौं हट्ट ॥

(ख) मूल ऊठी, झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।
जोगी था सो रमि गया, आसन रही बिभूति ॥

"आप कहते हैं—'मनुष्य दुःख भोगता है, मनुष्य मुक्त होता है'—तो यह दुःख भोगने वाला, दुःख से मुक्त होनेवाला कौन है? बुद्ध कहते हैं—'तुम्हारा यह प्रश्न ही गलत है (न कल्लोऽयं पञ्हो), प्रश्न यों होना चाहिए कि 'क्या होने से दुःख होता है?' और इसका उत्तर है यह कि 'तृष्णा होने से दुःख होता है।' यदि फिर प्रश्न किया जाय कि तृष्णा किसे होती है तो बुद्ध का वही उत्तर है कि तुम्हारा यह प्रश्न ही गलत है कि तृष्णा किसे होती है, प्रश्न यों होना चाहिए कि क्या होने से तृष्णा होती है और उत्तर यह होगा कि वेदना (संवेदन) होने से तृष्णा होती है। बुद्ध ने अव्याकृत (अकथित) बातों में समय नष्ट नहीं किया। जैसे किसी को विष-बाण लगे और वह कहे कि मैं इस बाण को तब तक नहीं निकलवाऊँगा जब तक मुझे यह पता न लगे कि यह बाण किसने चलाया है, वह किस वर्ण तथा आयु का है, किस रूप और गुण से युक्त है? आत्मा और ब्रह्म के विषय में भी लोग लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं और ऐसा करने से वे यह भूल जाते हैं कि संसार में दुःख है और दुःख से छुटकारा भी है। जिन प्रश्नों का कभी कोई उत्तर नहीं मिल सका उन्हीं में उलझे रहना बुद्ध का मार्ग नहीं है।

कबीर आदि सन्त मूलतः भक्त थे, इनके लिए ज्ञान, भक्ति का सहायक या प्रतिद्वन्द्वी नहीं। इन्होंने ईश्वर का वर्णन किया है और उसके प्रति अपने व्यक्तित्व को अर्पित किया है। बौद्ध और सन्त दोनों के लिए दुःख प्रथम आर्य सत्य है, परन्तु बौद्ध जन 'दुःख से मुक्ति' किसी अनिर्वचनीय शक्ति की सहायता से प्राप्त नहीं करना चाहते। जब कबीर के मन में एक दरार[1] पड़ गई और वे बूटी[2] की

---

1. मेरे मन में पड़ि गई, ऐसी एक दरार।
   फूटा फटिक पषाण ज्यों, मिला न दूजी बार ॥
2. परबत-परबत मैं फिरा, नयन गँवाये रोइ।
   सो बूटी पाऊँ नहीं, जा तैं जीवन होइ ॥

खोज में निरन्तर रहे तो सद्गुरु की[1] सहायता से उनको अनूप तत्त्व[2] मिल गया; वे पतिव्रता के समान निश्शेष समर्पण कर निर्मल बन गये; यही जीवन का लक्ष्य है। गौतम की उपलब्धि 'बोध' है, समर्पण नहीं। "भिक्षुओ, यह सामने वृक्षों की छाया है। यह एकान्त घर है। भिक्षुओ, ध्यान लगाओ, प्रमाद मत करो। देखो, पीछे मत पछताना।" यही बुद्ध की अनुशासना है। वे विचार-पूर्वक मन की शुद्धि एवं संयम पर बल देते हैं, निष्क्रिय समर्पण पर नहीं। उनके धर्म में चिन्तन एवं विचार पर विशेष बल दिया गया है। बुद्ध का मार्ग बुद्धिवादी है, विश्वासी-मात्र नहीं। दुःख से मुक्त होने का वह मनोवैज्ञानिक प्रयास है, अधीर सन्तोष मात्र नहीं। धर्म का सार 'धम्मपद' की एक गाथा में संचित कर दिया गया है—

> सब्बपापस्स अकरणं।
> कुसलस्स उपसम्पदा ॥
> सचित्त परियोदपनं।
> एतं बुद्धानुसासनं ॥

(अशुभ कर्मों का न करना, शुभ कर्मों का करना, और चित्त को संयम से रखना—यही बुद्धों की शिक्षा है।)

---

१. सतगुरु दाव बताइया, बेसे।
२. मिलि गया तत्त्व अनूप ॥

## ९ | सूर की रा

दुर्लभ जन्म सुलभ वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम-तरंग।
ना जानियं बहुरि कब ह्वं है, स्याम तिहारो संग॥

आभीर संस्कृति के लोकरत्न 'कान्ह' और 'राही' जब अकस्मात् आ
जाति को मिल गये तो आर्यजाति ने उनके 'कान्ह' और अपने 'कृष्ण' में ए
रूपता खोजकर दोनों का एकीकरण कर लिया, परन्तु इनके इतिहास में 'रा
जैसी कोई नारी थी ही नहीं, अतः 'राही' तथा 'राधा' के एकीकरण के लि
आर्य जाति को उस समय तक प्रतीक्षा करनी थी जब तक कि भक्ति-सुधानि
की सबसे उज्जवल मणि के रूप में राधा स्वयं ही वीचिविक्षोभविह्वला के समा
ब्रज के कछारों में न आ पड़ी। आभीर कान्ह अपनी जाति के बीच गायें चराक
जीवन निर्वाह करते थे और थे सबसे चंचल तथा नटखट, राही से उसी सम
उनका मन मिल गया, परन्तु कुछ समय पीछे उनके जीवन में एक परिवर्त
आया जिसने उनको राजा बना दिया, फिर उनका अपनी जाति से मानो नात
टूट गया; राही ने यह सब कुछ अपनी आँखों से देखा और अपने मन से सहा,
उसको विश्वास था कि प्रेम का परिणाम भला होता है—कान्ह अवश्य उसको
अपने साथ ले आवेंगे, परन्तु वह आजीवन प्रतीक्षा ही करती रही और मरणो-
परान्त भी उसी विश्वास के साथ अपने प्रिय का पथ देखती रही है। आज भी
जब एक व्यक्ति, युवक या युवती, दूसरे के साथ विश्वासघात करता हुआ उसका
हृदय तोड़कर उसको तड़पता हुआ छोड़ जाता है, तो मुझको ऐसा लगता है मानो
'राही' की अमर आत्मा अवतरित होकर इस भाग्यवान् अभागे को साहस बँधा
रही हो—"सावधान, प्रणय-पथ का सम्बल है विश्वास, वासना का जो उद्वेग
मन में उठ रहा है उसको खारे अश्रुजल से धोकर ही तुम अपने हृदय को प्रेमा-
मृत का उपयुक्त पात्र बना सकते हो; देखो निश्वासों की ताप से भी इसकी
शीतलता में व्याघात न पहुँचे, हमारा आदर्श तुम्हारे सामने है, तुम जैसे असंख्य
प्रणयवञ्चितों के पथ-निर्देश के लिए ही भगवान् ने मुझे भेजा था और उसी
... पूरा करने के लिए ही तो मैंने मोक्ष की कामना न करके [illegible] में

घूमते रहना पसन्द किया है।"

काव्य में राधा को स्थायी रूप से जयदेव ही लाये थे, उनकी राधा 'कोकिल-कूजित-कुञ्ज-कुटीर' में 'पीन-पयोधर-भार-भरेण' 'नीलकलेवर पीत-वसन वनमाली' का सराग परिरम्भण करने की 'विलासकला' में, मुग्धा होने पर भी, दक्ष है। 'अधर-सुधा-पानेन' सम्मोहित करने वाली उस 'नितम्बनी' का 'धुवृत्तविपाक' 'रति-विपरीत' में तड़ित के समान मुरारि के उर पर सुशोभित होना ही है। विद्यापति में भी राधा का यही रूप है, 'नवयुवती' 'केलिकलावती', वह कुल-कामिनी थी परन्तु कान्ह के 'मधु-सम वचन' से, लुभाकर वह कुलटा बन गई और प्रेम के मन्द परिणाम पर जीवन भर पछिताती रही—'कुल-गुन-गौरव' तथा 'सति-जस-अपजस' को 'मदनमहोदधि' के वेग में तिनके के समान बहा देने से और क्या मिल सकता था ? विद्यापति में जयदेव के समान विलास तो है ही, प्रेमाभिधेय काम की असफलता तथा तज्जन्य पश्चात्ताप की भी कमी नहीं; राधा मुग्धा से लेकर प्रौढा तक के रूप में मिलती है; उसने जो कुछ किया वह दूती के बहकाने से ही; वह मानो बदनाम हो गई है इसलिए न संसार को मुख दिखला सकती है और न अपने बचे हुए जीवन को एकान्त में बिता सकती है। विद्यापति के समकालीन चण्डीदास ने जिस अनन्य पिरीत रस के गीत गाये थे उसमें 'कामगन्ध नाहि, 'कुल शील जाति मान' सब कुछ उसी 'आमार प्राण', 'बन्धु' को समर्पित कर देने पर किस कलंक का डर, किसे अच्छे बुरे का विवेक—

कलंकी बलिया डाके सब लोके,
ताहाते नाहिक दुख।
तोमार लागिया कलंकेर हार,
गलाय परिते सुख।
... ... ...
सती वा असती तोमाते विदित,
भाल मन्द नाहि जानि।
कहे चण्डीदास पाप पुण्य मम,
तोमार चरण खानि।

चण्डीदास का व्यक्तिगत जीवन राधा के जीवन में भली-भाँति झलकता है; यहाँ मिलन की घड़ियाँ तो बहुत थोड़ी हैं—मिलन तो मानो हुआ ही नहीं; और यदि मिलन के कुछ क्षण जीवन में आये तो वे आशंका से खाली नहीं थे, विच्छेद[1] के डर से मिलन में भी दोनों रोते ही रहे; और एकत्र[2] रहकर भी प्रिया ने प्रिय के शरीर का स्पर्श तक नहीं किया। चण्डीदास का प्रेम 'किछु-किछु सुधा, विषगुण आधा' है, वस्तुतः प्रेम में सुख नहीं मिलता फिर भी दुःख के डर

१. दुहुँ कोरे, दुहुँ काँदे बिच्छेद भाविया।
२. एकत्र थाकिब, नाहि परशिब, भाविनी भावेर देहा।

से प्रेम का त्याग उचित नहीं¹; प्रीति की कसौटी ज्वाला² ही है—जिसके मन जितनी ज्वाला अधिक है उसकी प्रीति भी उतनी ही तीव्र होती है। दुख के [illegible] प्रेम करनेवाली को चण्डीदास ने सावधान कर दिया है :—

कहे चण्डीदास, सुन विनोदिनी, सुख दुख दुटि भाइ।
सुखेर लागिया जे करे पिरीति, दुख जाइ तार ठाइ॥

इस भाँति 'सौन्दर्य पिपासा' तथा विलास की प्रतिमूर्ति राधा यहाँ आक[र] हृदयस्थ ज्वाला की मूर्तिमयी प्रतिमा बन गई, जिसने अपनी मूक वेदना में समस्त कलुष तथा वासना को भस्मसात कर लिया; अब वह परमार्थ में भी आदर्श ब[न] सकती थी।

सूर की राधा बचपन से ही हमारे सामने आने लगती है। कृष्ण कुछ बड़े हो गये थे, माखन चोरी करने लगे थे, गाय चराने जाया करते थे, ब्रज में उनकी प्रसिद्धि हो गई थी, ब्रज युवतियाँ सुन्दरता के इस सागर को देखकर अनेक बार अपना "बुद्धि विवेक" खो चुकी थीं। अभी राधा एक सामान्य गोपी है, उसका कृष्ण से कोई विशेष परिचय नहीं। परन्तु एक दिन ब्रज की बाल-मंडली के साथ खेलते हुए कृष्ण राधा की ओर³ देखते हुए चले गये। वह क्षण राधा के जीवन में एक नया रंग ले आया, जहाँ भी वह जाती है उसे श्याम की वह 'मृदु मूरति' दिखाई पड़ जाती है—न जाने श्याम जान-बूझ कर उसकी आँखों के सामने बार-बार आते हैं, या संयोग अपने गर्भ में कुछ विशेष रहस्य छिपाये हुये है। राधा के मन में उल्लास था, ईश्वर ने उसको गोरा रंग और विशाल नेत्र दिये थे, उसकी माता उसके माथे पर रोली का लाल टीका लगा देती⁴ और पीठ पर लटकने वाली झालरदार चोटी में फूल गूँथ देती थी। गोरे रंग पर आसमानी साड़ी में बादलों के बीच बिजली के समान राधा की छवि एक दिन कृष्ण की आँखों में चका-चौंध पैदा कर गई; दोनों के नेत्र एक क्षण के लिए मिले, फिर नीचे हो गये, और फिर-फिर मिलने के लिए फुदकने लगे। अवसर पाकर कृष्ण ने पूछा—"सुन्दरी, तुम कौन हो? तुम्हारा घर कहाँ है? ब्रज में कभी तुमसे मिलना नहीं हुआ है।" राधा में यौवन छिपकर झाँक रहा था, उसने विभ्रम से विचित्र मुद्रा बनाकर उत्तर दिया—"हमें क्या पड़ी है तुम्हारे ब्रज आने की, हमारा ही इतना भव्य भवन और विशाल प्रदेश है (तुम किसी दिन आकर देखो तो तुम्हारी भी आँखें खुल जायें)·········हम तो वहीं सुन लिया करते हैं कि नन्द के पुत्र घर-

---

१. प्रेमे दुःख आछे बलिया प्रेम त्याग करिबार नहे। (रवीन्द्रनाथ ठाकुर)
२. जार जत ज्वाला तार ततइ पिरीति।
३. ब्रज-लरिकन संग खेलत डोलत, हाथ लिए चकडोरि।
   सूरस्याम चितवत गए मो तन, तन मन लियौ अंजोरि। (१२९८)
४. औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विशाल भाल दिए रोरी।
   नील वसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी। (१२९०)

घर से माखन और दधि चुरा-चुरा कर खाते रहते हैं।" कोई हमारे विषय में सब कुछ जानता है और बहुत दिनों से जानना चाहा करता है—इससे बढ़कर मन को भुलावे में डालने वाली कोई दूसरी बात नहीं, राधा और कृष्ण दोनों ही इसके शिकार हुए, प्रथम मिलन में ही दोनों ने चुप-चाप 'संग मिलि जोरी' की कल्पना की—क्या ही अच्छा हो अगर हम साथ-साथ खेला करें। नेत्रों के मिलने पर मन मिल गया, और उनको ऐसा लगा मानो वे तो जन्म-जन्मान्तर से एक दूसरे के परिचित हैं। यह 'प्रथम-स्नेह' था कृष्ण ने चलते-चलते राधा से कहा—"कभी हमारे यहाँ खेलने आओ न, मैं ब्रज ग्राम मे रहता हूँ, नन्द के घर, द्वार[1] पर आकर पुकार लेना, मेरा नाम 'कान्ह' है,······तुम बड़ी भोली-भाली लगती हो, इसलिए मन[2] तुम्हारा साथ करना चाहता है।"

राधा के मन में खलबली मचने लगी, ऐसा लगता था मानो एक बार हाथ मे आकर कुछ छिन गया हो। वह अपने घर को चलने लगी तो मार्ग में सखी से बोली—"बड़े आये घर वाले, किसी को क्या गरज पड़ी है जो इनके घर जाय।"[3] प्रेम का प्रारम्भ उस समय समझना चाहिए जब मन के प्रगट उल्लास को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न करते हुए अन्तरग सखी से भी झूठ बोला जाता है बुद्धू कहीं की, यह भी कोई बताने की बात है हमारे परस्पर के व्यवहार से भी इतना अनुमान नहीं लगा सकती कि हम एक दूसरे को प्रेम करते हैं। दिन बीते और 'नये प्रेम रस पागे' राधा और श्याम अपने अनुराग[4] में डूबकर हर तीसरे दिन विचरण करते हुए दिखाई पड़ने लगे। इस बीच राधा यशोदा के घर भी आई, श्याम ने माता से उसका परिचय[5] कराया; नन्दरानी को राधा बड़ी अच्छी लगी, वह अपने हाथ से 'राधा कुँवरि' को सजाती है और श्याम-राधा की इस जोड़ी को मन में मोद भरकर देर तक देखती रहती है। प्रीति की यह कथा छिपी न रह सकी, श्याम और राधा बहुत से बहाने बनाकर मिलने लगे तो सखियों के मन में यह बात खटकी, वे राधा के इन ढंगो[6] पर ताने देने लगीं—अपने घर मे तुमसे बैठा भी नहीं जाता और अगर बाहर आना है तो क्या बिना बने-ठने[7] नहीं आ सकती। सभी बातें बचपन कहकर टाली भी तो नहीं जा सकतीं,[8] लोग

---

. खेलन कबहु हमारे आवहु, नन्द-सदन, ब्रज गाउँ।
 द्वारे आइ टेरि मोहि लीजो, कान्ह हमारो नाउँ। (१२९२)
 सूधो निपट देखियत तुमकों, तातैं करियत साथ। (१२९२)
 सग सखी सौं कहति चली यह, को वैहै इनकैं घर। (१२९४)
 अन्तर बन-बिहार दोउ क्रीड़त, आपु-आपु अनुरागे। (१३०४)
 मैया री तू इनको चीह्नति, बारम्बार बताई (हो)। (१३८८)
 राधा ये ढग हैं री तेरे। १३३६।
 कै बैठी रहि भवन आपने, काहे को बनि आवै। (१३४६)
 लरिकाई तबही लौं नीकी, चारि बरष कै पाँच। (१३८८)

सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और अँगुली उठाने लगते हैं। इस प्रकार चलते-चलते समय बीतता गया; राधा अपना सर्वस्व समर्पित कर बैठी, न उसके माता-पिता को इसमें कोई आपत्ति थी और न नन्द-यशोदा को। शरद् की रात्रि आई, वृन्दावन में रास लीला प्रारंभ हो गई, राधा का यहाँ भी मुख्य भाग था[1]—अगर दूसरी गोपियाँ भी कृष्ण को चाहती हैं तो चाहा करें, रास में मुख्य भाग तो वे मुझी को देते हैं और सारे व्रज में यह बात फैली हुई है कि कृष्ण राधा के वश में हैं,[2] इससे बढ़कर और सौभाग्य क्या चाहिए ? सूर का कोमल हृदय यह मानने को तैयार नहीं कि राधा-कृष्ण का विवाह नहीं हुआ—विवाह और क्या होता है, कुंज मंडप में क्रीड़ा करते हुए घूमना ही तो[3] भाँवरी हैं और प्रीति की ग्रन्थि ही तो विवाह का बन्धन है, इस प्रकार 'एक प्रान द्वै देह' होकर रास करना साक्षात् विवाह[4] ही तो है। कभी-कभी रूठना-मानना चलता था, परन्तु प्रत्येक मिलन में नया और दूना उत्साह आ जाता था; 'अनगिन भाँति' राधा और कृष्ण ने क्रीड़ा करके व्रजलोक को सुख दिया और सबकी मनोकामना को पूरा किया।

यहीं राधा से एक बड़ी भूल हो गई; ऐसी भूल जिसका पश्चात्ताप हो नहीं सकता। कृष्ण कहते थे कि राधा उनकी है और संसार कहता था कि कृष्ण राधा के हैं। राधा ने इसका यह अर्थ समझा कि कृष्ण मानते हैं कि वे राधा के हैं—अगर उनके मन में तनिक भी द्विविधा होती तो स्पष्ट कह देते—'राधा, संसार हमारे तुम्हारे सम्बन्ध को गलत समझ रहा है, हमको अलग रहना चाहिए क्योंकि शायद हम लोग जीवन भर के लिए एक न हो सकें।' एक बार जब एक सखी ने कृष्ण के व्यवहार को सन्देह की दृष्टि से देखकर कहा कि यह प्रेम[5] दोनों पक्षों में समान नहीं है तो राधा को उस सखी पर 'रिस' आ गई—मूर्खा, यदि बोलना नहीं जानती तो चुप रह, वे बुरे हों या भले हों, हैं तो अपने ही[6], अगर हम भले हैं तो सब भले हैं[7], क्या तू यह समझती है कि कृष्ण मुझको कभी इस जीवन में भूल सकते हैं; देख श्याम मेरी ओर देखकर ही एक विचित्र प्रकार

---

१. सुनहु सूर-रस रास नायिका, सुन्दरि राधा रानी। (१६५४)
२. श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम अधीन। (१३७८)
   स्याम काम-तनु-आतुरताई, ऐसे स्यामा-बस्य भए री (१६१६)
३. सब देन भाँवरि कुञ्ज-मंडप, प्रीति ग्रन्थि हियैं परी। (१६६०)
४. आजौ ब्यास बरनत रास।
   है गन्धर्व विवाह चित्त दै, सुनो विविध विमास। (१६८६)
५. सजनी स्याम सदाई ऐसे।
   एक अंग की प्रीति हमारी, वे जैसे के तैसे (१८६३)
६. स्यामहिं दोष देहु जनि माई
   वे जो भले बुरे तौं अपने······(१६११)
७. आपु भलाई सबै भलेरी। (१६७३)
८. तू जानति हरि भूलि गए मोहिं। (१६७२)

से मुसकराया करते हैं।[1] सचमुच श्याम उस समय राधा के हो चुके थे, वैदिक विधि से विवाह तो नहीं हुआ था परन्तु इस सामान्य रीति के अतिरिक्त और कमी भी क्या रह गई थी; राधा का कृष्ण पर अनन्य अधिकार इसी से स्पष्ट हो जाता है कि राधा जब मान करती है तो कृष्ण उसको हर प्रकार से मनाते हैं, सिर चढ़ाकर घुमाने तक में उनको हिचकिचाहट नहीं। मोहन पर उसका कुछ ऐसा जादू हो गया था कि वे राधा के इशारे पर ही नाचते थे—अपना काम छोड़कर उसके साथ चले[2] जाते थे। जब बात यहाँ तक बढ़ गई तो एक दिन राधा ने कहा—यह भी कोई बात है भला, आप जरा भी ध्यान नहीं रखते, मुझे बड़ी लज्जा आती है,[3] आप यह भी नहीं जानते कि सब बातें सबके सामने कहने और करने की नहीं होतीं।' यह श्याम की परीक्षा थी— देखें वे क्या उत्तर देते हैं? श्याम ने स्वयं तो कुछ न कहा परन्तु सखामुख से कहलवाया कि संसार हँसता है तो हँसने दो उसकी क्या परवाह करनी?[4] अन्तःप्रेरणा[5] से जो प्रेम बढ़ा है उसका भरसक निर्वाह भी मैं करूँगी, राधा निश्चिन्त थी, उसमें अभिमान[6] आ गया, अब वह अपने को कृष्ण की 'विशिष्ट' सहचरी समझने लगी, और सारी सखियाँ मन ही मन उसकी प्रतिकूल बन गईं। वह राधा के जीवन का चरम सौभाग्य[7] था कि कृष्ण की अन्यथा प्रेयसी बनकर वह सबकी आँखों में खटकने लगी—सब की ईर्ष्यालु दृष्टि[8] राधा के इस सौभाग्य में विघ्न देखने की कामना कर रही थी।

राधा-कृष्ण की इन लीलाओं का सूर ने जो वर्णन किया है उसमें न जयदेव के समान विलास है, न विद्यापति के समान केलि और न चंडीदास के समान भावी विच्छेद के भय से मिलन में भी दुःख। सूर की राधा में विश्वास तथा उल्लास है, जिनका आधार व्यक्तिगत अनुभव भी है तथा समाज की चर्चा

१. स्याम कछु भौ तन ही मुसुकात। (१६६१)
२. मोहन कौं मोहिनी लगाई,संगहि चले डगरि कै। (२०५५)
३. स्यामहिं बोलि लियौ ढिग प्यारी।
ऐसी बात प्रगट कहुँ कहियत, सखिनि माँझ कत लाजनि मारी।
इक ऐसेहि उपहास करत सब, तापर तुम यह बात पसारी।
जाति-पाँति के लोग हँसहिंगे, प्रगट जानिहैं स्याम मतारी। (२१७५)
४. सूर स्याम-स्यामा तुम एकै, कह हँसिहै ससार। (२१७६)
५. अब तौ स्यामहिं सौं रति बाढ़ी, बिधना रच्यौ संजोग। (२२९१)
६. राधा हरि के गर्व गहीली।
मंद-मंद गति मत्त मतंग ज्यौं, अंग-अंग सुख-पुञ्ज भरीली। (२३६०)
७. तो सौं को बड़भागिनि राधा, यह नीकैं करि जानी। (२२१६)
८. तुम जानति राधा है छोटी।
चतुराई अंग-अंग भरी है पूरन ज्ञान न बुद्धि की मोटी।

सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और अँगुली उठाने लगते हैं। इस प्रकार बनते-बन समय बीतता गया; राधा अपना सर्वस्व समर्पित कर बैठी, न उनके माता-पि को इसमें कोई आपत्ति थी और न नन्द-यशोदा को। शरद् की रात्रि आई, वृन्द वन में रासलीला प्रारंभ हो गई, राधा का वहाँ भी मुख्य भाग था[1]—अगर दूस गोपियाँ भी कृष्ण को चाहती हैं तो चाहा करें, रास में मुख्य भाग तो वे मुझी देते हैं और सारे ब्रज में यह बात फैली हुई है कि कृष्ण राधा के वश में हैं,[2] इस बढ़कर और सौभाग्य क्या चाहिए? सूर का कोमल हृदय यह मानने को तैया नहीं कि राधा-कृष्ण का विवाह नहीं हुआ—विवाह और क्या होता है, कुंज मंडप में क्रीड़ा करते हुए घूमना ही तो[3] भाँवरी है और प्रीति की ग्रन्थि ही त विवाह का बन्धन है, इस प्रकार 'एक प्रान द्वै देह' होकर रास करना साक्षा विवाह[4] ही तो है। कभी-कभी रूठना-मानना चलता था, परन्तु प्रत्येक मिलन में नया और दूना उत्साह आ जाता था; 'अनगिन भाँति' राधा और कृष्ण ने क्रीड़ा करके ब्रजलोक को सुख दिया और सबकी मनोकामना को पूरा किया।

*यहीं राधा से एक बड़ी भूल हो गई; ऐसी भूल जिसका पश्चाताप हो* नहीं सकता। कृष्ण कहते थे कि राधा उनकी है और संसार कहता था कि कृष्ण राधा के हैं। राधा ने इसका यह अर्थ समझा कि कृष्ण मानते हैं कि वे राधा के हैं—अगर उनके मन में तनिक भी द्विविधा होती तो स्पष्ट कह देते—'राधा, संसार हमारे तुम्हारे सम्बन्ध को गलत समझ रहा है, हमको अलग रहना चाहिए *क्योंकि शायद हम लोग जीवन भर के लिए एक न हो सकें।*' एक बार जब एक सखी ने कृष्ण के व्यवहार को सन्देह की दृष्टि से देखकर कहा कि यह प्रेम[1] दोनों पक्षों में समान नहीं है तो राधा को उस सखी पर 'रिस' आ गई—मूर्खा, यदि बोलना नहीं जानती तो चुप रह, वे बुरे हों या भले हों, हैं तो अपने ही[2], अगर हम भले हैं तो सब भले हैं[3], *क्या तू यह समझती है कि कृष्ण मुझको कभी इस* जीवन में भूल सकते हैं; देख श्याम मेरी ओर देखकर ही एक विचित्र प्रकार

१. सुनहु सूर-रस रास नायिका, सुन्दरि राधा रानी। (१६५४)
२. श्री राधिका सकल गुन पूरन, जाके स्याम आधीन। (१३७८)
   स्याम काम-तनु-आतुरताई, ऐसे स्यामा-बस्य भए री (१६१६)
३. तब देत भाँवरि कुन्ज-मंडप, प्रीति ग्रन्थि हिये परी। (१६९०)
४. जाकौं ब्यास बरनत रास।
   है गन्धर्व विवाह चित्त दै, सुनौ बिबिध बिलास। (१६८६)
५. सजनी स्याम सदाई ऐसे।
   एक अंग ... री, वे जैसे के तैसे (१८९३)

(११)
)
(१६७५)

से मुसकराया करते हैं।[1] सचमुच श्याम उस समय राधा के हो चुके थे, वैदिक विधि से विवाह तो नहीं हुआ था परन्तु इस सामान्य रीति के अतिरिक्त और कमी भी क्या रह गई थी; राधा का कृष्ण पर अनन्य अधिकार इसी से स्पष्ट हो जाता है कि राधा जब मान करती है तो कृष्ण उसको हर प्रकार से मनाते हैं, सिर चढ़ाकर घुमाने तक मे उनको हिचकिचाहट नहीं। मोहन पर उसका कुछ ऐसा जादू हो गया था कि वे राधा के इशारे पर ही नाचते थे—अपना काम छोड़कर उसके साथ चले[2] जाते थे। जब बात यहाँ तक बढ गई तो एक दिन राधा ने कहा—यह भी कोई बात है भला, आप जरा भी ध्यान नहीं रखते, मुझे बड़ी लज्जा आती है,[3] आप यह भी नहीं जानते कि सब बातें सबके सामने कहने और करने की नहीं होतीं।' यह श्याम की परीक्षा थी—देखें वे क्या उत्तर देते हैं? श्याम ने स्वयं तो कुछ न कहा परन्तु सखामुख से कहलवाया कि संसार हँसता है तो हँसने दो उसकी क्या परवाह करनी?[4] अन्तःप्रेरणा[5] से जो प्रेम बढ़ा है उसका भरसक निर्वाह भी मैं करूँगी, राधा निश्चिन्त थी, उसमें अभिमान[6] आ गया, अब वह अपने को कृष्ण की 'विशिष्ट' सहचरी समझने लगी, और सारी सखियाँ मन ही मन उसकी प्रतिकूल बन गई। वह राधा के जीवन का चरम सौभाग्य[7] था कि कृष्ण की अन्यथा प्रेयसी बनकर वह सबकी आँखों में खटकने लगी—सब की ईर्ष्यालु दृष्टि[8] राधा के इस सौभाग्य मे विघ्न देखने की कामना कर रही थी।

राधा-कृष्ण की इन लीलाओं का सूर ने जो वर्णन किया है उसमें न जयदेव के समान विलास है, न विद्यापति के समान केलि और न चंडीदास के समान भावी विच्छेद के भय से मिलन मे भी दुःख। सूर की राधा में विश्वास तथा उल्लास है, जिनका आधार व्यक्तिगत अनुभव भी है तथा समाज की चर्चा

---

१. स्याम कछु मो तन ही मुसुकात। (१९९१)
२. मोहन कौं मोहिनी लगाई, संगहि चले डगरि कैं। (२०५५)
३. स्यामहिं बोलि लियौ ढिग प्यारी।
   ऐसी बात प्रगट कहुँ कहियत, सखिनि माँझ कत लाजनि मारी।
   इक ऐसेहिं उपहास करत सब, तापर तुम यह बात पसारी।
   जाति-पाँति के लोग हँसहिँगे, प्रगट जानिहै स्याम भतारी। (२१७५)
४. सूर स्याम-स्यामा तुम एकै, कह हँसिहै संसार। (२१७६)
५. अब तौ स्यामहिं सौं रति बाढ़ी, बिधना रच्यौ संजोग। (२२८१)
६. राधा हरि के गर्व गहीली।
   मंद-मंद गति मत्त मतंग ज्यौं, अंग-अंग सुख-पुञ्ज भरीली। (२३९०)
७. तो सी को बड़भागिनि राधा, यह नीकै करि जानी। (२५१६)
८. तुम जानति राधा है छोटी।
   चतुराई अंग-अंग भरी है पूरन ज्ञान न बुद्धि की मोटी।

थी, जब विश्वास नष्ट हुआ तो फिर गोपियों का कौन डर ? संसार में भी अब उसी प्रकार सब होता है जब तक कि प्रेम का परिपाक न हुआ हो फिर तो 'स्वत्व' की घोषणा कर जाता है —जो करते हैं वे क्या करें इसमें मान देने भगवान् ने युग निर्माण किया है जैसे हम कहीं न मानें ? राधा के प्रेम में अनुरागात्मक सम्बन्ध होते हैं, उनमें भावनाएँ अधिक, मन की परवशता, पुरस्कार, संयोग तथा भावना।

संगीत में लीक के समान जब एक दिन अक्रूर उस लीलामय जीवन में विघ्न बनकर आ गये तो सारे ब्रज में सनसनी मच गई। कृष्ण ने राधा से कहा—'मुझे कंस ने बुलाया है मैं मथुरा जा रहा हूँ।' राधा अपने कानों पर विश्वास न कर सकी, फिर वह सोच में डूब गई, उसका गला भरा हुआ था—मुख से कुछ भी उत्तर न निकला[1]; एक अंधकार सा उसकी आँखों में नाचने लगा—मिलन की यह अन्तिम वेला थी। रथ तैयार था, कृष्ण बैठ गये और कुछ देर में दूर पर धूलि ही उड़ती दिखाई पड़ी, अन्त में वह भी आँखों से ओझल हो गई—राधा को होश नहीं था, वह नहीं जानती कि यह सब हो क्या रहा है; जब वह चेती तो सिर पीटना और हाथ मलना[2] ही बाकी बचा था। मथुरा की सब घटनाएँ घटीं; नन्द लौट कर ब्रज आ गये, ग्वालों को सारी बात मालूम हुई; सबको यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि कृष्ण राधा को बिल्कुल छोड़कर कंस की एक कुबड़ी दासी कुब्जा को घर में डाल रखना चाहते हैं[3]। कहाँ राधा और कहाँ कुब्जा! कोई तुलना भी हो सकती है क्या !! राधा का जीवन ही बदल गया। सारा ब्रज उसी की बातें करता है—सभी लोग उसी को लक्ष्य करके कृष्ण को दोष देते हैं। पापी समाज ! न पहले मेरे सुख को देख सका न अब मेरे दुःख को। राधा को ऐसा लगता है कि मानो सहानुभूति दिखाने के बहाने लोग उसको चिढ़ा रहे हैं। कोई कहता है उनको तो कुछ दिन ब्रज में मौज करनी थी[4], अन्य का आक्षेप है कि श्याम ने बहुत बुरा किया प्रेम दिखाकर गले पर छुरी फेर दी[5], एक ने कहा—वे तो स्वार्थी थे स्वार्थी, वे प्रेम का निबाहना क्या जानें[6]। कुछ गोपियाँ कृष्ण का मजाक उड़ाने लगीं—सुना है अब तो वे राजा हो गये हैं, और मुरली तथा गायों

---

१. हरि मोसौं गौन की कथा कही।
मन गद्गद मोहि उत्तर न आयौ, हौं सुनि सोचि रही। (३५८३)

२. तब न बिचारी ही यह बात।
चलत न फेंट गही मोहन की, अब ठाढ़ी पछितात। (३६१६)

३. कैसे री यह हरि करिहैं।
राधा को तजि हैं मनमोहन, कहा कंस दासी घरि हैं।

४. करि गए थोरे दिन की प्रीति। (३८०२)

५. प्रीति करि दीन्हीं गरें छुरी। (३८०३)

६. प्रेम निबाहि कहा वे जानैं, सांचेई अहिराइ। (३८०४)

न नाम सुनते ही उनको लज्जा आती है (३८११)। परदेशी के प्रेम का
वेश्वास ही क्या, वह पहले प्रीति बढाता है, फिर अपने देश चला जाता है दूसरे
ो पछिताता छोड़कर[1]—हम तो प्रतिदिन यही देखती हैं, हमने तो पहले ही कह
त्या था कि ऐसा ही अन्त होगा, इस प्रेम का। राधा को बड़ी खीझ आती है—
व बातें बनाने वाले हैं कोई ऐसी युक्ति तो बतलाता नहीं जिससे वे फिर मिल
कें।[2] राधा ने अपने को ही दोष दिया—मेरे प्रेम मे ही कुछ कपट होगा जिससे
ाज यह विरह दुःख सहना पड़ा[3]; परन्तु अब करूँ तो क्या—सोच-विचार मे
। जीवन बीतता चला जा रहा है प्रिय के मिलने का कोई लक्षण नही दिखाई
इता[4]।

उद्धव के आगमन मे ब्रज के जीवन में एक नये अंक का प्रारंभ होता है।
ंशा और निराशा के बीच डूबती-तैरती गोपियाँ प्रेम-महोदधि मे लहरें ले रही
, उद्धव के उपदेश ने एक तूफान ला खड़ा किया, जिसमें सभी ब्रजवासी बह
।—नंद और यशोदा भी; न बही तो एक राधा क्योंकि उसको अपने प्रेम का
श्वास था—इसी तिनके के सहारे, बिना छटपटाये ही उसने अपना सारा जीवन
ट दिया; उसकी कामना कोई है तो यही कि विरहविह्वल प्राण जब इस कष्ट-
ंर शरीर को छोड़कर सदा के लिए जा रहे हो तब एक बार प्रिय के दर्शन हो
वें—तुम मेरे पास मत आओ, मुझ से बोलो तक नहीं परन्तु किसी बहाने क्षण
को ब्रज में आ जाना, जिससे मेरे मन की यह अन्तिम साध पूरी हो जावे—

बारक जाइयौ मिलि माधौ।
को जाने कब छूटि जाइगौ स्वाँस, रहै जिय साधौ॥
पहुँनेहु नंद बबा के आवहु, देखि लेहुँ पल आधौ। (३८५०)

राधा के मन मे दोगुनी कसक है—प्रेम की असफलता और लोक का
हास। अगर ससार को इस प्रसंग का पता न होता तो मन मार कर चुपचाप
ान्त मे दिन कट जाते, परन्तु सारा समाज सब कुछ जानता है और हमारे
यान की चर्चा चलाकर हमसे अधिक बुद्धिमान बनता है। एक बार मिलकर
सदा को बिछुड़ना जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप[5] है इसकी मौन पीड़ा

---

[1] कहू परदेसी को पतियारो।
पीछै ही पछिताइ मिलौगे प्रीति बढाइ सिधारो। (३८१३)
[2] बातनि सब कोइ जिय समुझावै।
जिहि विधि मिलनि मिलैं वै माधौ सो विधि कोउ न बतावै। (३८०१)
[3] सखी री हरिहिं दोष जनि देहु।
तातैं मन इतनौ दुख पावत, मेरोई कपट सनेहु। (३८१४)
[4] हरि न मिले री माइ जनम ऐसैं लाग्यौ जान। (३८३०)
[5] मिलि बिछुरे की पीर कठिन है, कहै न कोऊ मानै।
मिलि बिछुरै की पीर सखी री, बिछुरयो होइ सो जानै॥ (३८४७)

को वही समझ सकता है जिसके जीवन में यह दुर्घटना आ चुकी हो। अगर श्याम को व्रज में रहना नहीं था तो वे यहाँ आये ही क्यों,[1] और अगर वे आये भी तो मेरे मन को इतने अच्छे क्यों लगे—और जब वे इतने अच्छे लगे तो अपने बनकर क्यों न रह सके? मैं मन को कितना समझाती हूँ परन्तु वह मेरे वश में नहीं रहा[2]। अब इस शरीर को रखकर घुल-घुलकर[3] मरने से क्या है, और अगर मरना चाहूँ तो मरूँ कैसे? राधा ने जीवन में एक ही दाँव लगाया था उसीमें वह अपना सर्वस्व खो बैठी; अब उसकी दशा उस जुआरी की सी है जो बहुत कुछ समझाने पर भी न माना और जुआ खेलकर सदा को चौपट हो गया। अब न संसार को मुख दिखाया जा सकता है और न संसार से सहानुभूति या दया की आशा की जा सकती है—

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
अधोमुख रहति, उरध नहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी॥

राधा किस-किस को समझावे, किस को दोष दे, जिसके जो मन आवे वह वैसा कहता रहे, अगर हम में समझ होती तो प्रेम ही क्यों करते?

आशा ही संसार का जीवन है, मरते-मरते दम तक हम सोचते हैं कि शायद किसी प्रकार से बच सकें, सब कुछ नष्ट होता देखकर भी प्रेमी सोचता है कि शायद किसी बात से पत्थर पिघल ही जावे। इसलिए प्रेम सदा आशावादी होता है, हर कदम पर वह झुकता है और प्रिय के प्रत्येक अपराध को क्षमा करता रहता है भविष्य के भरोसे, एक बार वह पिघल जावे तो उसके सारे शूल फूल बन जावेंगे, उसकी सारी क्रूरता मान कहलावेगी। राधा इसीलिए मौन रही। प्रत्येक नवीनता आशा को भड़काती है और अन्त में अवसाद दे जाती है। सावन आया—एक के स्थान पर दो-दो, परन्तु साथ झूलने वाला प्रिय न आया। वर्षा आई, फिर बीत गई। शरद आ गई रास की पुरानी याद लेकर—परन्तु रास-रसिक को आज ध्यान ही नहीं है। प्रकृति मन में सुप्त भावनाओं को जगाया करती है—आकाश में घिरी हुई काली घटा को देखकर अपने आप आँखें भर आती हैं—

हरि परदेश बहुत दिन लाए।
कारी घटा देखि बादर को, नैन नीर भरि आये॥ (४०००)

राधा ने उद्धव से कुछ कहना चाहा भी हो तो वह कह न सकी, उसने सोचा अवश्य था कि बिना कहे मन हल्का[4] नहीं होता इसलिए मन की व्यथा को

---

१. बरु माधव मधुवन ही रहते, कत जसुदा के आये।
२. मैं मन बहुत भाँति समुझायौ।
३. दुसह बियोग बिरह माधौ के, को दिन ही दिन छीजै।
सूर स्याम प्रीतम बिनु राधे, सोचि-सोचि कर मीजै॥ (२६८०)
४. बिन ही कहैं पावने मन में, कब लगि सूल सहौं। (४६७७)

कह डाले परन्तु उसके नेत्रों में पानी आ गया और गला रुक गया[1]। अस्तु राधा की बहुत कुछ वेदना सूर ने सखी द्वारा व्यक्त कराई है। हमने एक निर्मोही[2] से प्रेम किया—एक 'ओछे' व्यक्ति से—हम यह न जानती थीं कि संसार में ऐसे लोग भी हैं जो बाहर से पूरा मेल-जोल दिखलाते हैं परन्तु जिनके मन में कपट[3] ही भरा रहता है। श्याम बड़े कपटी निकले, वे सदा हमारे साथ रहा करते थे, हमारे साथ घण्टों बैठे रहते थे, संग-संग घूमा करते थे, मिलकर हँसते थे[4] और दुःख-सुख की बातें करते थे। हमने श्याम को अपना बनाया—अपना सर्वस्व देकर हम उनके हो गये[5], उनके लिए संसार में बदनाम हो गये और घर-कुटुम्ब वालों के बुरे बने—परन्तु फिर भी क्या उस निष्ठुर ने हमारी इन बातों की अन्त में परवाह की? आह! अब उन बातों को सोचने से क्या है, हमारी सारी कामनाएँ—हमारे सारे सपने—मन के मन ही में रह गये[6]। अब कहें भी तो क्या-क्या कहें और किससे कहें—जिसको अपना समझा था वही अपना न निकला तो औरों का क्या भरोसा? हमारे लिए पश्चात्ताप ही आज शेष है—हमने क्या सोचा था[7] और उस निर्दयी ने क्या कर दिखाया! भूल अपनी ही है हमने उसको प्रेम किया था, परन्तु उसने हमको कभी अपनाया ही नहीं[8]—एकतरफा प्रेम का ऐसा ही करुण अन्त होता है! ···परन्तु नहीं, मैं अपने मन में सदा विश्वास रखूँगी, मेरे श्याम बड़े भोले थे, वे मुझे प्यार करते थे—मैं अपने उसी श्याम की याद में डूबी रहूँगी—ये मथुरा वाले श्याम हमारे नहीं हैं[9] ये तो कोई और हैं। राधा यह

१. कंठ वचन न बोलि आवै, हृदय परिहस मीन।
   नैनजल भरि रोइ दीनौ, ग्रसित आपद दीन। (४७२५)
२. प्रीति करि निरमोहि हरि सौं, काहि नहिं दुख होइ।
   कपट की करि प्रीति कपटी, लै गयो मन गोइ। (४४१८)
३. ऊधौ अति ओछे की प्रीति।
   बाहर मिलत, कपट भीतर यौं, ज्यौं खीरा की रीति। (४१५६)
४. कहा होत अबके पछिताने।
   खेलत, खात, हँसत एकहि संग, हम न स्याम गुन जाने। (४३७०)
५. जनि कोऊ बस परौ पराएँ।
   सरबस दियौ आपनौ उनकौ, तऊ न कह्यू कान्ह के भाएँ। (४६५८)
६. मन की मन ही माँझ रही।
   कहिए जाइ कौन पै ऊधौ, नाहीं परत कही। (४५८८)
७. मधुकर प्रीति किये पछितानी।
   हम जानी ऐसैंहि निबहेगी, उन कछु औरै ठानी। (४६०५)
८. ऐसो एक कोद कौ हेत।
   जैसे बसन कुसुम रँग मिलि कैं, नैंकु चटक, पुनि सेत। (४५३६)
९. ऊधौ अब नहिं स्याम हमारे।
   मधुबन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे। (४३६२)

तो जानती है कि श्याम ने मदे दिमाने में बहककर पुराने प्रेम को भुला दिया है[1] परन्तु उसे यह विश्वास है कि संसार में उनको कोई और इतना प्रेम न कर सकेगा[2]—किशोरावस्था में साथ-साथ रहने-रहते जो कभी न अगग होने की भावना मन में बैठ जाती है वह सुपरिचित होने के कारण भले ही आकर्षक न लग सके परन्तु वह अनन्य है वह वासना-रहित तथा स्वार्थहीन होती है, उसमें जितना सुख होता है उतना घर-घर के दिमागें में नहीं। और वास्तव में श्याम को पछिताना पड़ा, वे सोचते थे कि राधा का प्रेम भी कच्चा ही है, परन्तु जब उनको समय बीतने पर राधा के प्रेम की अनन्यता का प्रमाण मिला तो उनके मन में भी टीस होने लगी, परन्तु हाथ से समय निकल गया, अब तो पिछली भूल पर पछिताया ही जा सकता है— अपने मन की कसक को एक दिन श्याम ने अपने मित्र उद्धव से कहा था—'सूर चित तैं टरति नाहीं, राधिका की प्रीति'।

संसार में सदा दो प्रकार के व्यक्ति रहेंगे : एक तो वे जो भावना को ही सब कुछ समझते हैं, और दूसरे वे जिन्होंने सदा नाप-तोल करना सीखा है। यदि ये दोनों अलग-अलग रहें तो जीवन की बहुत सारी समस्याएँ उत्पन्न ही न हों, परन्तु संयोग प्रायः इन दोनों को मिला देता है। साहित्य में ऐसे वर्णन भी हैं जहाँ धन, प्रतिष्ठा आदि के लोभ में कोई विवाहित युवक प्रेम को ठुकराकर कुछ समय के लिए परदेश चला जाता है—प्रतीक्षाकुल विरही (या विरहिणी) की वेदना के उस समय के उद्गारों को समाज के ठेकेदारों ने बड़ा सराहा है। और ऐसी विषादपूर्ण कथाओं को भी कमी नहीं जिनमें नाप-तोल करने वाला अविवाहित प्रेमी किसी भावुक प्रेमपात्र से पहले तो प्रेम जोड़ता है फिर किसी भौतिक स्वार्थवश उस प्रेम को तोड़कर[3] अन्यत्र चला जाता है, तब प्रवञ्चित प्रेमी समाज की सनद के अभाव में अपने मन की ज्वाला को या तो अतलजल में शान्त करता है या अग्नि की चिनगारियों में मिला देता है (यह कहना आसान नहीं कि आदर्श उस विवाहित कथा में अधिक था या इस अविवाहित घटना में)। संसार में धन-सम्पत्ति, ज्ञान-विज्ञान, यश-गौरव सब कुछ है और एक स्थान से दूसरे स्थान पर अधिक है, परन्तु क्या इन्हीं भौतिक उपकरणों के कारण पिछले प्रेम को ठुकरा देना चाहिये; विशेषतः जब कि दूसरे का कोई और आधार ही न हो? सौराष्ट्र के कवि ने एक ऐसे ही अपने को बुद्धिमान समझने वाले निष्ठुर को बार-बार समझाया है—

---

१. मधुकर यह निहचै हम जानी।
   खोयो गयो नेह नग उनपै, प्रीति-कायरी भई पुरानी। (४३३२)
२. परम सुखद सिसुता को नेहु।
   सो जनि तजहु दूर के बासे, सुनहु सुजान जानि यति येहु।
३. कठिन निर्दय नन्द के सुत, जोरि तोरयो नेहु।

मिथ्या छे ज्ञान अने कोटक छे फां-फां
व्यर्थ आ जीवननो विखवाद हो।
साणा समझीले सांचा सत्यनें ।।
प्रेम भीना प्राणियों संसारमां विचरजे।
प्रेम छे सृष्टिनो संवाद हो।
साणा समझीले सांचा सत्यनें ।।[1]

सत्य तो यह है कि पहले तो इस संसार में किसी व्यक्ति को हमारा मन पसन्द नहीं करता और यदि किसी एक को पसन्द करता भी है तो वह व्यक्ति अपना नहीं हो पाता[2]—यह इस संसार की सनातन विडम्बना है। राधा-कृष्ण इसी के प्रतीक हैं। परन्तु इस विडम्बना से विश्वासघात का उत्तरदायित्व कम नहीं हो जाता। हाँ, अनन्य त्याग और तप से राधा का पद पराजय में अपने जीवन का अन्त कर लेने वाले असफल प्रेमियों से सहज ही ऊँचा उठ जाता है। राधा जानती है कि स्वार्थी लोकमत उसको ही बुरा-भला कहेगा, वह यह भी जानती है कि उस निष्ठुर को अपनी निष्ठुरता पर घुट-घुटकर पछिताना पड़ेगा, और राधा को विश्वास है कि यदि उस निर्मोही की आँखों के सामने भविष्य का दारुण चित्र आ जावे तो उसका तुच्छ स्वार्थ पिघल कर बह जावेगा। इसलिए राधा ने यह निश्चय किया कि वह प्रिय के पास अपना संदेश नहीं भेजेगी—जो किसी महत्वाकांक्षा में भूला हुआ है उसे प्रेम का सात्विक रूप याद दिखाई न पड़ेगा—उसी पुरानी सुख-स्मृति में, उसी विश्वास तथा उल्लास में, राधा अपना सारा जीवन काट देगी; संसार उसे पागल कहना चाहे तो कहता रहे, अपना सर्वस्व गँवाकर समाज की थोथी सहानुभूति की उसे भूख नहीं—

'हम अपने ब्रज ऐसेहि रहि हैं, विरह-बायु बौराने।'

---

१. समस्त ज्ञान मिथ्या है, दिन-रात परिश्रम करना निरर्थक है, और इस जीवन के सारे संघर्षों में कोई सार नहीं, हे सयाने! तू जीवन के इस वास्तविक सत्य को समझ ले। तू अपने प्राणों को प्रेम के सौरभ से सुरभित करके संसार में विचरण कर, इस सृष्टि का एकमात्र संवाद प्रेम ही है। हे सयाने! तू जीवन के इस सारगर्भित सत्य को समझ ले।

२. बंगाली गीत—'मन मिले, तो मनेर मानुष मिले ना'।

# १० | भ्रमर-गीत की भूमिका

दक्षिण भारत में 'पुष्टिमार्ग' का उपदेश देने से 'आचार्य' पद प्राप्त करने के अनन्तर जब महाप्रभु वल्लभ ब्रजभूमि के दर्शन को आये तो उन्होंने भक्तों के मुख से एक सहृदय भक्त सूरदास की प्रशंसा सुनी। महाप्रभु ने सूर को बुलवाया और भगवल्लीला का कोई पद गाने का उनको आदेश दिया, परन्तु सुनकर आचार्य को आनन्द न प्राप्त हुआ। निश्चय ही वे सूर की कला पर रीझे और उनको अपना शिष्य बना लिया, परन्तु महाप्रभु ने सूर को बतलाया कि जीवन में दीनता की कोई आवश्यकता नहीं है। आचार्य वल्लभ के सदुपदेश से सूर के ज्ञानचक्षु खुले और उन्होंने देखा कि समग्र ब्रह्माण्ड में भगवान् कृष्ण (ब्रह्म) और भगवती राधा (प्रकृति) का अखण्ड नित्य रास (नित्य नया क्रिया-कलाप) हो रहा है और कुछ सौभाग्यशालिनी गोपियाँ (जीवात्माएँ) भगवान की पुष्टि (कृपा) से वंशी (आंतरिक पुकार) की ध्वनि सुनकर सुत-पति-गृह (संसार के सम्बन्धों) को त्यागकर उस रास में साक्षी रूप से भाग लेती हैं। महाप्रभु की आज्ञा से श्रीमद्भागवत के इस रहस्य को सूर ने 'भाषा' में गाया है। इसी भाषा-कथा के अन्तर्गत वह प्रसंग भी है जहाँ ज्ञानी उद्धव विरहणी गोपियों को ज्ञान-मार्ग का उपदेश देने आये परन्तु उनके अटूट प्रेम से प्रभावित होकर स्वयं ज्ञान की बातें भूलकर ज्ञानी से भक्त बन गये। इस सरस स्थल को साहित्य में 'भ्रमरगीत' कहा जाता है।

"भ्रमर-गीत" नाम पड़ने की कथा बड़ी रोचक है। जब कृष्ण गोकुल से मथुरा और द्वारका चले गये तो उन्होंने अपने एक मित्र उद्धव को गोकुल इसलिए भेजा कि वे विरहणी गोपियों को समझा बुझाकर शांत कर आवें। जिस समय ज्ञानी उद्धव अपना उपदेश सुना रहे थे उस समय एक भ्रमर भी वहाँ इधर-उधर गूंज रहा था। भ्रमर और कृष्ण में बहुत सी बातें समान हैं—दोनों का रंग श्याम होता है, दोनों की ध्वनि (वंशी का स्वर तथा भ्रमर की गूंज) बड़ी मोहक होती है, दोनों का वस्त्र पीत (कृष्ण का पीताम्बर, तथा भ्रमर की पीतरेखा) होता है, दोनों सद्यः विकसित पुष्पों (या नवेली रमणियों) का रस लेकर बसते

बनते हैं। इसलिए गोपियों ने अनेक ऐसे वाक्य भ्रमर को लक्ष्य करके कहे हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से श्याम पर लागू करने थे। इधर उद्धव तथा भ्रमर में भी बहुत कुछ समानता है—रूप-रंग तथा वेषभूषा के अतिरिक्त कर्म भी दोनों का एक ही है क्योंकि नारी-जगत् में यह माना जाता है कि यदि भ्रमर किसी विरहिणी के पास आकर गुनगुनाने लगे तो उसके प्रियतम का संदेश ही कहता है। इस प्रकार गोपियों ने भ्रमर को लक्ष्य करके संदेशवाहक उद्धव से भी बहुत सी कथ्य-अकथ्य बातें अन्योक्ति रूप से कही हैं। गोपियाँ उद्धव से तो बातें कम करती हैं, परन्तु भ्रमर के प्रति उनका कथन चलता ही रहता है। इस प्रसंग की वक्रता ही इसकी प्रसिद्धि एवं रोचकता का मूल कारण है।

हिन्दी-साहित्य में इस प्रसंग के दो रूप हैं : एक प्राचीन या साम्प्रदायिक एवं दूसरा नवीन या सुधारवादी। प्राचीन रूप की दो शाखाएँ मानी जा सकती हैं, एक का उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि भक्तिमार्ग ज्ञान मार्ग से बढ़ कर है; दूसरा यही बतलाता है कि संसार में प्रेम के पीछे मर मिटना ही जीवन की सफलता है; प्रथम का सम्बन्ध भक्ति साहित्य से है और दूसरे का रीतिसाहित्य से। नवीन रूप कृष्ण के मथुरागमन को आधुनिक समस्याओं के अन्तर्गत समझता है, जिसका दर्शन सत्यनारायण 'कविरत्न' के 'भ्रमरदूत' में मिलेगा।

भक्तिकालीन भ्रमरगीत के जन्मदाता विनोदी सूरदास थे, नन्ददास आदि ने भी उन्हीं की भूमिका पर अपना भवन खड़ा किया है। सूर के कृष्ण मथुरा पहुँचकर ग्वाले से महाराजाधिराज बन गये परन्तु उस कृत्रिम जीवन में उनका मन न लगा, वे नित्य राधा तथा दूसरी गोपियों की सुधि में उदास रहा करते थे। श्याम के एक मित्र थे उद्धव, जो ज्ञान में अद्वितीय थे; वे कृष्ण को बार-बार समझाया करते थे कि क्या प्रेम-प्रेम चिल्लाया करते हो, प्रेम हृदय की दुर्बलता है, तुम्हें गोपियों की याद भुला देनी चाहिए। श्याम उद्धव को उत्तर भी दें तो क्या, हृदय हाथ पर रख कर तो दिखाया नहीं जा सकता, और किसी व्यक्ति की धारणा को कहने-सुनने से बदलना भी संभव नहीं। श्याम ने एक सफल युक्ति सोची और एक दिन जब उद्धव के आने की वेला थी, श्याम अपने मुख पर कुछ गंभीरता तथा कुछ उदासीनता की सी झलक दिखाते हुए बैठ गये। उद्धव आये, उन्होंने कृष्ण के मुख की एक विचित्र मुद्रा देखी तो उत्सुक होकर बोले—'क्या सोच रहे हो आज प्रातःकाल से ही ? कोई नवीन बात तो नहीं हुई ?'

श्याम अधिक गंभीर हो गये—'नवीन क्या, सोचता यह हूँ कि संसार का मोह व्यर्थ है वस्तुतः प्रेम में कोई सार नहीं, व्यक्ति को ज्ञानवान् होकर इससे ऊँचा उठना चाहिए।'

उद्धव को इस उत्तर की स्वप्न में भी आशा नहीं थी, उनको अपने ऊपर बड़ा गर्व हुआ क्योंकि अन्त में आज उनका प्रयत्न सफल हो गया। वे अपने मन के भाव को छिपाने का प्रयास करते हुए शिष्टाचार पूर्वक बोले—'ठीक ऐसा ही

नहीं कहा जा सकता कि प्रेम नितान्त निस्सार है, परन्तु वह आप जैसे महान् को शोभा नहीं देता, मुझे पहले भी आशा थी कि आप महान् हैं।'

श्याम अपने मन में मुस्कराए—'व्यक्तियों का विशेष अन्तर नहीं सिखानेवाला यदि योग्य है तो सभी ज्ञानी बन सकते हैं।'

कृष्ण ने आगे कहा—'यदि उपदेशक योग्य हो तो गोपियाँ भी ज्ञान दीक्षित हो सकती हैं, परन्तु गोकुल तो बड़ा पिछड़ा हुआ प्रदेश है वहाँ ज्ञानी ही कहाँ।'

उद्धव के मन में आया कि वे वहाँ जाकर उपदेश देने के लिये अपना ना दे दें परन्तु वे थोड़ा रुककर बोले—'उपदेशक तो आप यहाँ से भी भेज सकते हैं यहाँ एक से एक बड़ा ज्ञानी पड़ा हुआ है'।

श्याम ने उत्तर दिया—'यही मैं सोचता था परन्तु मुझे आपके अतिरिक्त ऐसा कोई व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ता जो कृतकार्य हो सके, क्या तुम गोपियों का उद्धार करने के लिए इतना कष्ट स्वीकार कर सकते हो?'

हृदय में अपार हर्ष और मुख पर जनसेवकों की सी बनावटी उदासीनता दिखलाते हुए उद्धव कल ही प्रातःकाल जाकर गोपियों को उपदेश देने के लिये सहमत हो गये, और अपने हृदय की उदारता दिखाते हुए उन्होंने यह घोषित कर दिया कि वे जो कुछ कहेंगे उसका नाम 'उपदेश' न होकर "श्याम का सदेश' ही रहेगा। श्याम को इसमें कोई आपत्ति नहीं थी।

इधर गोपियाँ विरह में तड़पती रहती थीं परन्तु उनको विश्वास था कि उनका तड़पना व्यर्थ नहीं जा सकता, भावना के संसार में जो तरंगें उठती हैं वे सूक्ष्म तथा अनुभवातीत होते हुए भी सम्बन्धित व्यक्ति पर अवश्य ही प्रभाव डालती हैं, कृष्ण उदासीन नहीं रह सकते, वे एक दिन अवश्य आवेंगे। उन्होंने मथुरा की ओर से एक रथ को आता देखा, वैसा ही ध्वज, वैसा ही साज, वैसी ही गति, वैसा ही रंग-रूप, निश्चय ही कृष्ण आ गये, जो जिस प्रकार बैठी थी उसी प्रकार इस सुसमाचार को सुनकर दौड़ी और सबने आकर रथ को घेर लिया। परन्तु दुर्भाग्य, श्याम नहीं यह तो कोई अन्य है, उनके मित्र हैं, पीछे कृष्ण आ रहे होंगे···उद्धव क्या कहते हैं?···उनका ही 'सन्देश' लाये हैं···सुनो री! सुनो, इस सन्देश में कितनी वेदना होगी, कितनी विकलता होगी, इसीलिए पहले सन्देश भेजा है, पीछे आप आवेंगे। वे श्रद्धापूर्वक उद्धव के मुख पर नेत्र गड़ाकर उनके चारों ओर बैठ गईं। उद्धव ने जो सन्देश दिया वह तो गोपियों को अभीष्ट नहीं था, उसका उन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा और प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने उद्धव का स्वागत न कर उनको आड़े हाथों लिया।

सूर के वर्णन को पढ़कर ज्ञात पड़ता है कि ज्ञानी, गम्भीर परन्तु अगढ़ उद्धव को चंचल, वाग्मी तथा अदेसराध्या गोपियों ने घेर लिया। पृथु उद्धव यह समझते थे कि वे गोकुलवासियों पर बड़ी कृपा कर रहे हैं उस सन्देश को लाकर, इसलिए सब लोग उनकी पूजा करेंगे, श्रद्धा एवं शान्ति से उनके उपदेश को सुन

कर धन्य हो जावेंगे। गोपियाँ समझ गईं कि यह तो मूर्ख एवं दम्भी है इसको कोई 'लिफ्ट' नहीं दी जा सकती। कल्पना कीजिये जैसे एक भोला अध्यापक चवल छात्रों की कक्षा में अनुशासन रखना न जानता हो, और वे छात्र उसकी उस दुर्बलता को जानकर उसको 'फेल' सिद्ध करने पर तुल गये हों। बेचारे उद्धव को इतना अवसर ही नहीं मिल पाया कि वे अपने पक्ष के समर्थन मे अपना विद्वत्ता-पूर्ण भाषण दें, उनके एक-एक शब्द को मुख से निकलने में देर होती, परन्तु उस शब्द पर टीका-टिप्पणी प्रारम्भ होने मे देर न होती थी; और उस टीका-टिप्पणी का कोई अन्त न था, वह तो एक आधार था जिसका बहाना लेकर गोपियाँ उस सभा का विध्वंस कर रही थीं।

सूर की गोपियों मे एकमात्र राधा तो ऐसी है जो अपनी ही 'चूक' पर पश्चात्ताप करती है, जिसने नन्दलाल की कही हुई बातों को अपने हृदय मे लिख लिया है, और जो प्रिय के मित्र उद्धव को बुरा-भला कहना भी ठीक नही समझती। दूसरे वर्ग की वे गोपियाँ हैं जो शायद गभीर रही होगी, उन्होंने उद्धव को स्पष्ट बतला दिया कि योग और ज्ञान का मार्ग भी बुरा नहीं परन्तु वे उसकी अधिकारिणी नहीं, क्योंकि—

(१) वे रमणियाँ हैं, योग केवल पुरुषों के लिए साध्य है।

(२) वे युवावस्था मे हैं, सन्यास केवल वृद्धावस्था मे ही लेना ठीक माना गया है।

(३) वे अपढ़ हैं, ज्ञानमार्ग केवल विद्वानों के लिए है।

(४) वे शूद्र हैं, वेदविहित मार्ग पर कैसे चल सकेंगी?

तीसरे वर्ग मे वे गोपियाँ हैं जो युवती होने के कारण स्वभाव की उद्धत हैं, वे भ्रमर को सबोधन करके उद्धव को साफ-साफ मूर्ख, शठ, नीच, पशु, पियक्कड़ आदि कह देती हैं। परन्तु इन तीनों वर्गों में सूर की विशेषता नहीं, उनका चतुर्थ वर्ग तो अनन्य एवं अपूर्व है; जहाँ उदासी, गभीरता शोक अथवा विचारशीलता का नाम भी नहीं है, है केवल कहकहा मारकर विनोद का रस लूटना। जान पड़ता है यह वर्ग रास में भी अग्रणी था और इस सभा मे भी; सकोच न होने के कारण, हमारा अनुमान है कि, इस वर्ग में वयःसन्धि की किशोरियाँ ही रही होंगी।

सूर की इन किशोरियों की विचारधारा का एक ही सार है कि एक वेग-भरे कहकहे से उदासी के बादलों को छिन्न-भिन्न कर देना चाहिए। उनके कथन में कहीं भी अभिधा से काम नहीं लिया गया, उनके प्रत्येक शब्द मे वक्रता है—एक छिपी हुई चंचलता है। उद्धव के ही शब्दों में वे उससे यह स्वीकार करा लेना चाहती हैं वह बिना सींग और पूँछ का है। कोई कहती है—'उद्धव जी, सोच लो, शायद श्याम ने तुमको यहाँ नहीं भेजा, अन्यत्र भेजा होगा, तुम पथ-भ्रष्ट हो गये हो।' दूसरी कहती है, 'नहीं री, यह सदेश श्याम का थोड़े ही है, यह तो कुब्जा रानी का है; क्यों उद्धव जी ठीक है न?' अन्य कहती है—'अच्छा

ठहरो, यह बतलाइए उद्धव जी, कि जब श्याम ने आपको यहां भेजा था (देखो, तुमको मेरी शपथ है, हँसी नहीं है, ठीक-ठीक बतलाना) हाँ, तो उस समय उनकी मुखमुद्रा कैसी थी ? (आँख बंद करके सोच लो थोड़ी देर) वे मुस्करा रहे थे न ?' अन्त में एक मुँहफट गोपी ने साफ-साफ ही कह दिया—'वाह, मिस्टर उद्धव, आप खूब आये, आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, यहाँ पर सभी लोग उदास थे आपने अपनी बुद्धूपन की बातों से हम लोगों का बड़ा मनोरंजन किया—

"ऊधो ! भली करी तुम आये।
ये बातें कहि-कहि या दुःख में ब्रज के लोग हँसाये ।।"

सूर की इन गोपियों में स्त्री-जन-सुलभ विनोद, तथा रसिकता है, परन्तु नन्ददास ने वातावरण बदल दिया। इनकी गोपियाँ विदुषी हैं, भाषा बोलती है संस्कृत-मिश्रित, बातें करती हैं सोद्देश्य (टू दी पाइन्ट), और तर्क भी देती हैं अकाट्य । इनका उद्धव से शास्त्रार्थ होता है, जिसमें वे यह सिद्ध कर देती हैं कि भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग से उत्तमतर है। यह भक्तियुग की एक विशेषता थी कि सभी महात्मा भक्ति की सरलता एवं साध्यता समझा कर उसको ज्ञान की अपेक्षा बढ़ कर बतलाया करते थे, गोस्वामी तुलसीदास ने भी ऐसा ही किया है। सूर की गोपियों के समान नन्ददास की गोपियाँ भोली-भाली तथा अपने में ही सन्तुष्ट रहने वाली नहीं है, न वे सूर की गोपियों के समान यह कहती हैं कि उनके लिए भक्ति ही अच्छी है औरों का उनको पता नहीं। नन्ददास की गोपियाँ इससे कम सम्बन्ध रखती हैं कि उनके लिये क्या अधिक उपयुक्त है; उद्धव को इन व्यक्तिगत बातों से प्रयोजन ही क्या; परन्तु वे सदा के लिए यह सिद्ध कर देना चाहती हैं कि ब्रह्म की निर्गुण उपासना सार-हीन है—भक्ति का मार्ग ज्ञान या तप के मार्ग से श्रेष्ठ है। इन गोपियों को अपढ़ या ग्रामीण न समझना चाहिए, वे ज्ञानी उद्धव के भी दाँत खट्टे कर सकती हैं। इस भाँति सूर तथा नन्ददास के दृष्टिकोण में वातावरण का भेद है; एक में हृदय प्रधान है दूसरे में बुद्धि, एक कवि है दूसरा दार्शनिक।

हमने ऊपर बतलाया है कि शृंगारी युग में 'भ्रमर गीत' का कथानक भक्ति-ज्ञान का झगड़ा न रह सका। अधिकतर कवियों में ऐसे फुटकल छंद पाये जाते हैं, जिनमें "ऊधौ", "कान्ह", "मधुप" आदि संबोधन इस प्रसंग की ओर संकेत करते हैं। इस वर्णन को नायिका-भेद ही कहा जावेगा, "कान्ह" सामान्य नायक, तथा "राधा" सामान्य नायिका का नाम पड़ने से "कुब्जा" सर्वत्र सपत्नी का ही द्योतक है, बेचारे उद्धव मानो दूत (दूती) हैं, गोपियाँ भोगविलास और केलिक्रीड़ा की ही इच्छुक है—कान्ह से उनका इतना ही प्रेम जान पड़ता है। हृदय की परवशता, विकारहीन स्मृति तथा शुद्ध उपालंभ यहां है ही नहीं। उद्धव मानो कुब्जा के पठाये हुए हैं, इसलिए उनको मह उपालंभ भी सुनने पड़ते हैं, कहीं-कहीं अश्लीलता भी आ गई है। वस्तुतः इन गोपियों ने 'भक्ति' को 'भोग' समझा, और कुब्जा को विजयिनी सपत्नी, 'ज्ञान' का 'वैराग्य' बनकर

"प्रिय से वंचित हो जाना" मर्म बन गया, उद्धव मानो यही संदेश लाये थे कि कुब्जा को भोग और गोपियों को 'जोग' का मिलना उचित है।

शृंगार के अन्तिम प्रतिनिधि जगन्नाथदास 'रत्नाकर' हैं उनका 'उद्धव-शतक' रीतिकाल के आदर्श पर कवित्तों में ही है — पदों में नहीं। उनकी गोपियां सूर तथा नंददास की गोपियों का भी सत्संग प्राप्त कर चुकी हैं परन्तु उनकी अभिन्नता रीतिकालीन गोपियों से है। अशिष्टता से भी रत्नाकर जी को अधिक अरुचि नहीं जान पड़ती। इन गोपियों को हम प्रेम की भिखारिणी ही पाते हैं जिनकी आँखों में आँसू हैं, मन में ध्यान है, और कलेजे पर हाथ है; वे मन को मारकर और हृदय की मरोरें सहती हुई अपने दिन काट रही हैं। यहाँ कुछ तर्क भी है और कुछ प्रमाद भी, हृदय की जलन भी है और सपत्नी पर रोष भी, अधिकतर बातें दूसरों से ले ली गई हैं। इन गोपियों का मुख्य हठ है कि वे श्याम को चाहती हैं न भोग चाहती हैं न योग, उनको मुक्ति की तनिक भी कामना नहीं है—और इस पागलपन का कारण वही समझ सकता है जिसने श्याम को उनकी आँखों से देखा है—

(१) सरग न चाहैं अपवरग न चाहैं, सुनौ
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं बिरक्ति उर आनै हम ॥
(२) कहा मिलिबै तैं कहा मिलिहै बतावौ हमैं
ताको फल जब लौं मिलै ना नन्दलाला हू ॥
(३) ऊधौ ब्रह्मज्ञान को बखान करते न नैकु,
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियानि तैं ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने 'प्रियप्रवास' में राधा को स्वकीया नायिका का रूप देकर भ्रमरगीत के प्रसंग को एक नया मार्ग दिखाया है, यहाँ कृष्ण भी 'कन्हैया' के रूप में नहीं आये इसलिए अन्य गोपियों का दुःख यशोदा का दुःख है तथा राधा का दुःख गृहिणी का दुःख है। इसलिए राधा ने अपने सारे सुखभोगों को त्यागकर अपने को जनसेवा के उस महान् कार्य में लगा दिया जिसके लिए उनका प्राणों से प्यारा कृष्ण गोकुल से दूर रह रहा था। कृष्ण से योग एवं लोकप्रिय जनसेवक से वियोग है जिसका प्रभाव सब पर समान रूप पड़ता है—

गुलाब ये बहु जो ब्रज के लिए,
फिर नहीं ब्रज के दिन वे फिरे।
मलिनता न समुज्ज्वलता हुई।
दुःखनिशा न हुई सुख की निशा ॥

भ्रमरगीत का आधुनिक साँचे में ढला हुआ रूप सत्यनारायण "कवि-रत्न" का "भ्रमर-दूत" है। यहाँ नन्ददास के से टेकवाले पदों में गोकुल को ग्रामीण तथा मथुरा (द्वारका) को आधुनिक नगर मानकर ग्रामीण जीवन सुख तथा नागरिक जीवन के दिखावे की तुलना की गई है। दूसरे शब्दों में

लेखक ने पुरानी सभ्यता और नई सभ्यता का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए, यह बतलाया है कि नई सभ्यता में सुख तथा संतोष नहीं है। यशोदा अपने संदेश में उद्धव को बतलाती है कि नगर में न शुद्ध दूध मिलता होगा न जो मक्खन मक्खन, श्याम को ये वस्तुएँ बड़ी प्रिय थीं, वह किस प्रकार इन वस्तुओं के बिना सरुचि भोजन करता होगा। इसी प्रकार ग्रामीण जीवन के दूसरे पक्षों पर विचार करते हुए गोपियाँ बतलाती हैं कि ग्राम का प्रेम सच्चा होता है नगर का प्रेम केवल दिखावा-मात्र होता है। कवि ने आधुनिक सभ्यता में रँगी हुई ललनाओं की फैशन—उनके हावभाव का—गोपियों द्वारा बड़ा ही उपयुक्त उपहास कराया है—

> 'अब की गोपी मदभरी, अधर चले डिगुलाय।
> चारि दिना की छोकरी, इतनी गई इतराय ॥
> जहाँ देखो तहाँ ॥"

(आजकल की छोकरियाँ बड़ी ही मदमाती हैं, वे नाचती हुई सी—बनने से—ऊँची एड़ियों की सैंडलों के कारण—पृथ्वी पर पैर नहीं रखतीं; कल की बालिकाएँ होकर भी हवा से बातें करती हैं।)

---

११ | हिन्दी के मंगल-काव्य

'मंगल' शब्द का अर्थ शुभ, कल्याणप्रद अथवा श्रेयस्कर है। इस शब्द का प्रयोग महाभारत से ही उपलब्ध होने लगता है। संस्कृत साहित्य में 'मंगल-गीत' 'मंगलाष्टक' आदि काव्य-रूपों के नाम भी हैं। पाली-भाषा में 'महामंगल सुत' उन सात सूत्रों का नाम है जिनमें भगवान् बुद्ध ने सर्वसामान्य को कल्याण-कारी सामाजिक नियमों के अनिवार्य पालन का उपदेश दिया था (दे० सुत निपात, महामंगल सुत)। आधुनिक युग में पूर्वी भारत की बंगभाषा ने 'मंगल-काव्य' नाम से एक काव्य-परम्परा का विकास किया जो सारस्य, सम्पन्नता एवं समृद्धि के कारण बंगीय साहित्य के प्रत्येक अध्येता का ध्यान आकृष्ट करती है।

द्वादश-त्रयोदश शताब्दी में जब बंगाली-हृदय में 'सुकुमारता, भावार्द्रता तथा पुरुषकारहीन अदृष्ट निर्भरता' ने स्थायित्व प्राप्त कर लिया तो धर्मकाव्य गुणोपेत मंगलकाव्यों के माध्यम से उसे अभिव्यक्ति मिली। प्रारम्भ में ये 'मंगल-गीत' थे जिनके गाने से गायक तथा श्रोता दोनों का कल्याण होता था, ये गीत आठ दिन से एक मास तक की अवधि में नियमपूर्वक गाये जाते थे, आगे चलकर ये क्षुद्राकार मंगल गीत ही बृहदाकार मंगलकाव्य बन गये।[१] मंगलकाव्य मूलतः शाक्त थे; इनके इष्टदेव मनसा, चण्डी, गंगा, शीतला आदि स्त्री देवता हैं—बंगाली मंगलकाव्य मुख्यतः मनसादेवी तथा चण्डीदेवी की स्तुति तथा लीला-गान के लिए रचे गये हैं। अनुकरण पर धर्मठाकुर के मंगलगीत भी लिखे गए। जब वैष्णव प्रभाव आया तो भक्तों ने 'चैतन्य मंगल' तथा 'अद्वैतमंगल' की भी रचना की; परन्तु परम्परा की दृष्टि से इन वैष्णवमंगलों को मंगलकाव्य मानने में संकोच है। मंगलकाव्य के देवी-देवता लौकिक हैं, पौराणिक नहीं; इनमें लीला की अपेक्षा कहानी का तत्व अधिक होता है; इनके देवता अपद्रालु को दण्ड देने में जितने निर्मम हैं उतने भक्ति से पिघलने वाले भी हैं; समाज का सामान्य तथा

१. डा० तमोनाशचन्द्र दासगुप्त : प्राचीन बांग्ला साहित्येर इतिहास, पृ० ८८, ८९

निम्न वर्ग ही इनमें चित्रण का विषय बना है। सामान्यतः मंगल-काव्य को ब्राह्मण विरोधी-परम्परा का ही साहित्य समझना चाहिए।

बंगाली मंगलकाव्य की मुख्य धारा तो स्त्रीप्रधान, कहानी-रूप तथा लौकिक है, परन्तु धीरे-धीरे इनमें इतर तत्त्वों का भी मिश्रण होता गया है। लौकिक चण्डी के स्थान पर पौराणिक मार्कण्डेय चण्डी की अवतारणा से पौराणिक चण्डी मंगलकाव्य लिखा जाने लगा, जिसके प्राचीन कवि द्विज कमल लोचन (१६०६-३०) हैं, इनके काव्य का नाम 'चण्डिकाविजय' है; परन्तु भवानी प्रसाद कर (१६५० ई०) का काव्य 'दुर्गामंगल' नाम से ही विख्यात है। इस परम्परा के दूसरे कवियों ने भी 'चण्डीकाव्य' लिखा है। कविरंजन रामप्रसाद सेन का 'कालिकामंगल'; भारतचन्द्र का 'अन्नदामंगल'; अनेक कवियों के 'गंगा-मंगल', 'शीतलामंगल', 'षष्ठीमंगल', 'कमलामंगल', 'शारदामंगल'; पुरुषदेवता-प्रधान 'सूर्यमंगल', 'धर्ममंगल', 'कृष्णमंगल', (भागवत का अनुवाद) आदि में शाक्त-तत्त्व पर ब्राह्मण-तत्त्व बलीयान् दिखाई देता है।

बंगाली मंगलकाव्य का सर्वोत्तम रूप 'मनसामंगल' में उपलब्ध होता है। पद्म-मृणाल पर शिव-वीर्य के पतन से पाताल में नागराज वासुकि के घर अलोक-सामान्या रूपवती कन्या मनसा का जन्म हुआ, नागराज कन्या को शिवठाकुर के घर छोड़ने आये। शिवजी कन्या को चण्डीदेवी से छिपाकर घर लाना चाहते थे, अतः फूलों में छिपाकर जब मनसा को लाने लगे तो मार्ग में उसके लिए दूध की आवश्यकता हुई। जिस-जिसने दूध देकर उस मनसा देवी की पूजा की उसका कल्याण हुआ, जिसने उपेक्षा की उसका नाश हुआ। परन्तु जब तक चम्पकनगर का चाँद सौदागर देवी की पूजा न करे तब तक मर्त्यलोक में उसका प्रचार [illegible] सकता था।

कुछ दिन पीछे चण्डी के आघात से मनसा की एक आँख जाती रही, उसका पति जरत्कारु उसको त्याग कर चला गया, तब देवी जगन्तीनगर में रहने लगी। मनसा के रोष से एक विद्याधर का चम्पकानगर में चन्द्रधर (चाँद) नाम से जन्म हुआ, उसकी पत्नी का नाम सनका था, वह परम शैव था, परन्तु उसकी पत्नी छिपकर मनसा की पूजा कर लेती थी। शैव चाँद को अपनी पत्नी पर क्रोध आया, उनसे देवी का घट तोड़ दिया, देवी ने उसके छः पुत्र मार दिये; चिढ़कर सौदागर ने सर्वत्र देवी की पूजा बन्द करा दी; तब व्यापार में सौदागर को हानि हुई और परदेश में उसकी बड़ी दुर्दशा हुई। इस बीच श्री कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध और उसकी पत्नी ऊषा का पुनर्जन्म हुआ, अनिरुद्ध चाँद का पुत्र लक्ष्मीन्द्र बना, उसका विवाह बेहुला के साथ हो गया। यत्न करने पर भी मनसा देवी के आदेश से लक्ष्मीन्द्र को कालनागिनी ने काट लिया, तब बेहुला पति के शव को लेकर नाना प्रकार से विलाप करती हुई देवलोक में पहुँची। अन्त में शिव जी के आदेश से चाँद सौदागर देवी का भक्त बन गया और उसके अनुकरण पर सबने मनसा देवी की सानुराग पूजा की और चाँद-सनका, लक्ष्मीन्द्र-बेहुला सुखपूर्वक

रहने लगे। कथा भिन्न होते हुए भी मंगलकाव्य की यही सामान्य रूपरेखा है कि किसी प्रतापशाली व्यक्ति को देवी की उपेक्षा से महाकष्ट की प्राप्ति हो फिर देवादेश से उस देवी की भक्ति करने पर उस व्यक्ति को सर्वसुख मिले। कष्ट दे-देकर अपनी सेवा में भर्ती करने की यह कला अश्लाघ्य है; इसमें दो सम्प्रदायों का संघर्ष झलकता है, जनता को फुसलाने के लिए इस प्रकार के गीतों की सोद्देश्य रचना हुई थी; पीछे इनको काव्य-पद भी प्राप्त हुआ।

मंगल-काव्य का बाह्य-रूप गीति-प्रधान है। नियम पूर्वक इन कहानियों का सुनाना और सुनना आवश्यक एवं मंगलमय था अतः भावावेश में देवी का मानो आदेश मानकर भक्त लोग इन गीतों की रचना करते थे :—

हाते लइया पत्र मसी, आपनि कलमे वसि, नाना छन्दे लिखेन कवित्व।
जेइ मन्त्र दिल दीक्षा, सेइ मन्त्र करि शिक्षा, महामन्त्र जपि नित्य-नित्य।
देवी चण्डी महामाया, दिलेन चरण-छाया, आज्ञा दिलेन रचिते संगीत।
(कविकंकण चण्डी)

कथा के साथ-साथ हृदय का अनुराग भी प्रशंसनीय है; बीच-बीच के जय-घोष तथा प्रणति-नाद मनोहर हैं; काव्य का स्तर उच्च न होने पर भी उसमें तत्कालीन जनता के यथार्थ चित्र उपलब्ध होते हैं; भाषा सरल और विचार सामान्य है, परन्तु दुःख सुख, प्रेम-वेदना आदि का वर्णन बड़ा द्रावक है; इन रचनाओं में अप्राकृत तत्त्व बहु मात्रा में प्राप्त है। अन्त में मंगलमय होने के कारण ये मंगलकाव्य हैं। कवि का विश्वास है कि इन गीतों की रचना एवं श्रवण से इहलोक तथा परलोक दोनों की सिद्धि होती है —

जनमे जनमे दुर्गा तुया गुण गाइ।
अन्तकाले भवानी चरणे दिय ठाइ।
राम राम राम राम राम गुण गाम।
चण्डिकार चरणे मोर सहस्र प्रणाम॥ (मंगलचंडीर गीत)

सभी सम्प्रदायों में इष्टदेव के गुणकीर्त्तन की महिमा है; वैष्णव सम्प्रदाय उसको 'लीला-गान' या 'चरित-गान'[1] कहता है, शाक्त सम्प्रदाय 'मंगल-गान', और नाथ-सम्प्रदाय आज भी उसको 'ज्योति'-गान के नाम से पुकारता है। सबका उद्देश्य श्रोताओं के मन में सोती हुई भक्ति को संगीत-कथा संयोग से जगाकर उनको कल्याणकारी पथ पर ले जाना है। लौकिक (अपौराणिक) भक्ति-काव्य में पूर्वी मंगलकाव्य को एक विशेष स्थान प्राप्त है।

प्रायः मंगलकाव्य को पूर्व देश की ही सम्पत्ति समझा जाता था; परन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने विद्वानों का ध्यान पश्चिमी मंगलकाव्यों हिन्दी

१. तुलना कीजिए—
कलप-कलप हरि-चरित सुहाये।
भाँति अनेक मुनीसन गाये॥ (रामचरित मानस)

के मंगलकाव्यों की ओर आकृष्ट किया है। पृथ्वीराज रासो के छियालीसवें समय 'विनयमंगल' सन्त कबीर के 'आदिमंगल' 'अनादिमंगल', 'अगाधमंगल'[1] तुलसी दास के 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' तथा नन्ददास के 'रुक्मिणीमंगल' की चर्चा विद्वानों ने की है। 'विनयमंगल' में राजकुमारी संयोगिता को उसकी गुरु ब्राह्मणी ने वधू-धर्म की शिक्षा दी है,[2] वधू-धर्म की मर्यादा अथवा 'विनय' से ही वधू का मंगल होता है, इसीलिए उसको शिक्षा-युक्त काण्ड 'विनयकाण्ड' या 'विनयमंगल' कहलाया। 'आदिमंगल' में २५ दोहे हैं, यह प्रश्नोत्तर की शैली पर सृष्टि की मंगलमयी[3] उत्पत्ति का वर्णन करता है, ज्ञानमय होने के कारण यह मंगलमय कहा जा सकता है। यह मानना आवश्यक नहीं कि मंगल का सम्बन्ध विवाह तथा जन्म से ही है, हमारा प्रत्येक कार्य मंगल-कार्य है, प्रत्येक संस्कार के लिए मंगल-लग्न, मंगल-गीत तथा मांगलिक विधि अनिवार्य है—आज जन्म, मरण तथा विवाह तीन ही संस्कार शेष बचे-से हैं परन्तु यज्ञोपवीत आदि भी उतने ही मंगल-संस्कार हैं। द्विवेदी जी ने हिन्दी-मंगल-काव्य दो प्रकार के बतलाये हैं—विवाह-परक तथा 'उपख्यान-मूलक'; चन्दबरदाई, तुलसीदास तथा नन्ददास ने विवाह-परक मंगल-काव्य लिखे हैं; कबीर ने 'उपख्यान-मूलक'; परन्तु कबीर[4] के मंगल-प्रसंगों को मंगल-काव्य कहना अधिक उपयुक्त नहीं लगता, इसमें बंगाली उपाख्यानों के समान कहानियाँ भी नहीं मिलतीं, ये प्रसंग केवल 'मंगल-चर्चा' नाम के ही अधिकारी हैं। पंजाब तथा राजस्थान के राजकीय तथा वैयक्तिक पुस्तकालयों की छानबीन करने पर ऐसी अनेक पुस्तकों के मिलने की संभावना है जिनका नाम 'मंगल' शब्दान्त हो और जो, [पूर्वी मंगल-काव्यों के समानान्तर हों, पश्चिम प्रदेश की लुप्त परम्परा को पुनर्जीवित कर दें—यद्यपि उन पुस्तकों से हिन्दी-साहित्य के सौन्दर्य में कोई श्री-वृद्धि न होगी।

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में हमको २० मंगल-नाम धारी हस्तलिखित पुस्तकें प्राप्त हुई हैं, जो राजस्थान तथा पंजाब में भी इस

---

१. अगाधमंगल, पद संख्या ३४, विषय योगाभ्यास का वर्णन।
(हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ३५८)

२. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृ० ३२८।

३. मंगल-उत्पत्ति आदि की सुनियो सन्त सुजान।

४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'आदिमंगल' के रचयिता रीवां के महाराज विश्वनाथसिंह हैं, कबीर नहीं।
(हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ०, १०३; सं० २००८ का संस्करण)

५. बंसीदास—कृष्णमंगल, नरहरि—रुक्मिणीमंगल, नन्ददास—रुक्मिणीमंगल, सूरदास—राधामंगल, वल्लभदास—रसिकमंगल, तुलसीदास—जानकीमंगल, सुन्दरदास—कृष्णमंगल, विष्णुदास—रुक्मिणीमंगल, रामदत्ता—रुक्मिणीमंगल, मेहरचन्द—रुक्मिणीमंगल, उदय—रुक्मिणि-

प्रकार के तमसावृत्त साहित्य की संभावना को दृढ़तर करती हैं। विषय-वस्तु के आधार पर इनको ४ वर्गों में रखा जा सकता है।

| | |
|---|---|
| (१) रुक्मिणीमंगल | १३ प्रतियाँ |
| (२) कृष्णमंगल | २ प्रतियाँ |
| रसिकमंगल | १ प्रति |
| राधामंगल | १ प्रति |
| (३) शबरीमंगल | १ प्रति |
| (४) जानकीमंगल | २ प्रतियाँ |

इन २० पुस्तकों में तुलसीदास और नन्ददास के प्रसिद्ध मंगलकाव्य सम्मिलित हैं, और तुलसीदास के नाम से 'शबरीमंगल', तथा सूरदास के नाम से 'राधामंगल' भी रचित मिलते हैं। पद्मदास की रचना के दो नाम हैं—'रुक्मिणी-मंगल' तथा 'रुक्मिणी ब्याहलो', इससे यह अनुमान लगता है कि 'राधामंगल तथा ब्याहलो' (राधा ब्याहलो) एक ही कृति के दो नाम हैं—उसके रचयिता कोई भी सूरदास हों। मंगलकाव्य का राजस्थानी नाम 'ब्याहलो'[2] भी रहा होगा, संभवतः १६ संस्कारों में से महत्वपूर्ण विवाह को निर्विघ्न-सम्पन्न अतः मंगल-मय मानकर प्रचलित। भाषा की दृष्टि से देखें तो अवधी, राजस्थानी तथा ब्रज तीनों का प्रयोग है, कुछ काव्यों में संस्कृतनिष्ठ ब्रजभाषा है तो कुछ में चलती हुई; बाहरी (विशेषतः खड़ी बोली का) उड़ता हुआ प्रभाव कुछ काव्यों में प्राप्त होता है। छन्द की दृष्टि से साहित्यिक छन्द तथा राग दोनों ही उपलब्ध हैं, दोहा भी है तथा गेय छन्द भी। काव्य-गुण इन रचनाओं में अल्प ही है क्योंकि इनकी रचना कवित्व के लिए नहीं हुई इनके अधिकतर रचयिता कवि थे भी नहीं। यह असम्भव नहीं कि पुस्तक पर जिसका नाम है वह रचयिता न होकर लिपिकार मात्र ही हो; उसकी योग्यता का अनुमान 'विष्णुदास मथुरा के लाला' के निम्न-लिखित श्लोकों से, स्थाली-पुलक न्याय से, लगाया जा सकता है :—

> यादृशं पुस्तकं दृष्टा, तादृशी लिखतो मया।
> यदि शुद्धं अशुद्धं वा, मया दोषो न दीयते॥

एक ओर नाना-पुराण-निगमागम के पण्डित 'जानकीमंगल' के रचयिता

---

मगल, गुमानकवि—रुक्मिणीमगल, भगवान—रुक्मिणीमंगल, तुलसीदास—शबरीमंगल, पद्मदास—रुक्मिणीमगल, (रुक्मिणी—ब्याहलो) विष्णुदास मथुरावासी—रुक्मिणीमंगल, विष्णुपुरी—रुक्मिणीमगल, हीरामणि—रुक्मिणीमंगल, रामराय रुक्मिणीमगल।

१. सूरसागर के रचयिता सूरदास की एक रचना, विषय विवाह, पद्य सख्या २३ (हि० सा० का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ७५०)

२. 'ब्याहलो की रचना ध्रुवदास ने भी की है। (हि० सा० का इतिहास, पृष्ठ, १६४)।

तुलसीदास और दूसरी ओर 'मथुरा के साथा' लिपिकार विष्णुदास; दो विपन्न कोटियों को मंगलकाव्य ने एक ही घेरे में ला पटका। इन हस्तलिखित मंगल-काव्यों के विषय में एक बात और है कि ये संख्या में २० होते हुए भी मात्रा में उतने नहीं हैं, खंडित तथा अपूर्ण कृतियों के विषय में यह मैं नहीं कह सकता कि वे किसी दूसरी प्रति की ही अशुद्ध प्रतिलिपि नहीं हैं; तुलसी के नाम से र 'जानकी मंगल' मिलते हैं, विष्णुदास के नाम पर दो 'रुक्मिणीमंगल' हैं।। पुस्तकों का रचना-काल १७ वीं शती के प्रारम्भ से १९वीं शती के अन्त तक और भाषा के आधार पर यह अनुमान है कि इनकी सृष्टि पश्चिम प्रदेश के भिन्न भिन्न भागों में हुई होगी।

'रुक्मिणीमंगल' के मुख्य लेखक तो नन्ददास[1] हैं, परन्तु उनसे पूर्व ता उत्तर १२ अन्य लेखकों ने भी इस कथा को गाया है। कुन्दनपुरी नगरी में भीर राज्य करते थे, उनके पाँच पुत्र थे और एक रूपसी पुत्री थी। एक दिन नार आये और राजपुत्री के विषय में उन्होंने कहा कि उसका विवाह कृष्ण के सा होगा। रुक्मिणी ने दृढ़ निश्चय किया और तप करने लगी; उसका भाई उस सहमत न था। राजसूय यज्ञ में मगध देश का राजा जरासन्ध भी आया; परन् कृष्ण सब को पराजित करके रुक्मिणी को ले आये और उन्होंने उससे विधिपूर्व विवाह किया। मूर्ख रुक्म तथा जरासन्ध को अपने कर्म का फल मिला और संसा में मंगलोत्सव होने लगे। इस मंगलमय घटना को जो लोग सुनेंगे और सुनावें उनका सब प्रकार से कल्याण होगा—

> जो कोउ ग्रंथ मतिमंद चंद को धूर चलावै।
> उलटि दृगनि में परे मूढ़ को तब सुधि आवै॥ (१०७)
> इह विधि सब नृप जीत रुक्मिनी हरि लै आए।
> विधिवत कियो विवाह तिहूँ पुर मंगल गाए॥ (१२८)
> जो इहु मंगल गावेहि तिहूँ पुर मंगल सो सुनै सुनावै।
> सो सब मंगल पावै हरि-रुक्मिनी मन भावै॥ (१२९)
> (नन्ददास)

नन्ददास की कृति साहित्यिक तथा कलात्मक है, उनकी ऊँचाई तक दूसरे कवि नहीं पहुँचे; साथ ही अपनी रचना के अन्त में वे यह भी बतला देते हैं कि उन्होंने इसका नाम मंगल-काव्य क्यों रखा है; अन्य रचनाओं के विषय में भी वही प्रवृत्ति स्वीकार कर लेनी चाहिए। आकार की दृष्टि से दूसरा रुक्मिणी मंगल विष्णुदास का है, यह पुस्तक काली की स्तुति के प्रारम्भ होकर ४६ पृष्ठ तक चलती है, 'कल्यान', 'विष्णुपद' आदि रागों के नाम दिये हुए हैं, भाषा में भी संगीत है परन्तु शुद्धता नहीं, पुस्तक बहुत पीछे की लिखी लगती है, भाषा में खड़ी बोली

---

१. नन्ददास का 'रुक्मिणीमंगल' कलकत्ते से १९३४ में प्रकाशित भी हो चुका है। (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृष्ठ १८९ फुटनोट)।

का स्पर्श है—'मगध देश का राजा कहीरा जरासिन्ध भी ग्राया।' दूसरे विष्णुदास मथुरावासी हैं—'विष्णुदास मथुरा के लाला'; इनके रुक्मिणीमंगल में ग्राधुनिक ब्रजभाषा की छाप है, पुस्तक का लिपिकाल १८१३ है; भाषा का नमूना देखिए—

> तेरी साँवरी सूरत माधुरी मूरति प्यारी।
> मेरे नैनन में बसि रही टरे नहिं टारी ॥
> अब कीजो बेग सहाय भीर है भारी।
> तोहि बार-बार लिखि भेजे रुकमिनि नारी ॥

पद्मदास का 'रुक्मिणीमंगल' ३० पृष्ठ का है, इसका उपनाम 'रुक्मिणी-ब्याहलो भी लिखा है, भाषा राजस्थानी पिंगलमिश्रित है, राग तथा दोहे छन्द है, दोहों में काव्य-गुण हैं जो पद्मदास को मंगलकारों में ऊँचा स्थान दिला सकते हैं—

> एक मोती ग्रौर दूधला, इनको यही स्वभाव।
> फाट्या पीछें ना मिले, करि देखो कोट उपाव ॥

उदय के रुक्मिणीमंगल की खंडित प्रति मिलती है, २३३ दोहा ग्रादि छन्दों में कवि ने विवाह तथा विवाहकालीन उत्साह का वर्णन किया है—'भयो ब्याह उछाह ग्रति, कीयौ उई बखान'। गुमानकवि, रामलला, नरहरि, महरचन्द विष्णुपुरी, हीरामणि भगवान तथा रामराय ने भी रुक्मिणी-मंगल लिखे है; नरहरि[1] ग्रौर महरचन्द (सं० १७१९) की पुस्तकें ग्रपूर्ण ही प्राप्त हैं, भगवान् की कृति संक्षिप्त २० पृष्ठ की है। जिस प्रकार बंगाली मंगलकाव्य की मुख्य ग्राराध्या मनसादेवी तथा चण्डीदेवी हैं उसी प्रकार हिन्दी के मंगल-काव्य की मुख्य देवता रुक्मिणी हैं। कल्पना ने इतिहास को एक करारी टक्कर दी ग्रौर कृष्णावतार मे विष्णु की सहधर्मिणी का काव्यगत एकाधिकार राधा को मिल गया, फलतः विस्मृता रुक्मिणी को लोक-साहित्य के मांगलिक गीतों में ही भटकते रहना पड़ा।

'कृष्णमंगल' की हमको दो प्रतियाँ मिली हैं। एक गंगादास की ग्रौर दूसरी ग्रंबरदास की; इसी के साथ वल्लभदास के 'रसिकमंगल' तथा सूरदास के 'राधा-मंगल' पर विचार कर लेना चाहिए। बँगला भाषा का 'कृष्णमंगल' माधवाचार्य कृत भागवत् का ग्रनुवाद है, इसकी साहित्यिक दृष्टिभंगी[2] रचनारीति स्वतन्त्र है, यह मंगलकाव्य होते हुए भी वैष्णव है। कवि कृष्णरामदत्त ने ३० पृष्ठ का 'राधिकामंगल' शक संवत् ११८३ में लिखा था; एक दिन राधा के ग्रनुपम रूप-गुण का स्मरण करके घनश्याम का चित्त विषाद से विकल हो उठा, उन्होंने उद्धव को भेजा, उद्धव जब वापिस ग्राये तो कृष्ण तथा रुक्मिणी के सामने राधा की दशा का उन्होंने वर्णन किया; सुनकर श्रीमती पिघली ग्रौर उन्होंने विरहिणी

---

१. संभवतः महापात्र नरहरि बन्दीजन। (हि० सा० का इतिहास, पृ० १९९)

२. डा० तमोनाशचन्द्र दासगुप्त : प्राचीन बाँग्ला साहित्येर इतिहास, पृ० २०७

राधा के उद्धार की प्रार्थना की :—

श्रीमती बोलेन प्रभुकर अवधान।
कृपा करि सुन्दरीर देउ वरदान॥
मिलिला सुन्दरी राधागोविन्द साक्षात।
पुलके आकुल तनु अश्रु हय पात॥
निठुर हृदय प्रभु करि नमस्कार।
तापिनी राधारे प्रभु करह उद्धार॥

× × ×

कृष्णरामदत्त कहे राधिका-मंगल।
शुनिले पातक नाश, शरीर निर्मल॥

हिन्दी के इन चार राधा सम्बन्धी मंगल-काव्यों में से अम्बरदास का राधा मंगल तो ६ पृष्ठ की विरुदावली है, भक्ति के आवेग में रची गई; सूरदास का 'राधामंगल' १२ पृष्ठ में राधाकृष्ण की शारदीय रास लीला का चौपाई-दोहा आदि छन्दों में वर्णन है :—

चलौ सखी तहाँ जाइए, जहाँ बसैं ब्रजराज।
गोरस बेचें प्रेमहित, एक पंथ द्वै काज॥

से प्रारम्भ होकर उस लीला का परिपाक आशीर्वादात्मक वाक्य में हो जाता है—

मंगल राधाकृष्ण कौ, सुनैं जो नर अरु नारि।
तिनके सकल मनोरथा, सिद्धि करहि त्रिपुरारि॥

यह निश्चय है कि यह 'राधामंगल' 'सूरसागर' का एक अंश नहीं है। वंशीदास ने १७ छन्दों में 'कृष्णमंगल' नाम से दानलीला का वर्णन किया है जो गुण की दृष्टि से अच्छा है :—

सुन्दर राधेश्याम आनन्द मंगल घनें।
घर-घर गोपि गुवाल रूप-सोभा बनें॥
राजत बाजूबंध खचल श्रुति सोहने।
गल मोतियन कौ हार, राधे मनमोहनें॥

वल्लभदास का 'रसिकमंगल' यदि सम्पूर्ण मिल सकता तो उसमें भागवत की पूरी छाया मिल जाती और बंगाली 'कृष्णमंगल' के समान ठहरता। इसकी रचना शक संवत् १६२६ में वृन्दावन स्थित वल्लभदास ने की थी—संवत् १६२६ शक संवत् (=१७६१ वि०) रचनाकाल न होकर लिपिकाल हो; शक संवत् देने से ऐसा लगता है कि लेखक बंगाली है, 'वृन्दावनवासी' के स्थान पर 'वृन्दावनमध्ये' से इस सम्भावना की पुष्टि होती है। 'रसिकमंगल' ४ भागों में विभक्त है, और प्रत्येक भाग में 'लहरें' हैं प्रत्येक 'लहर' में एक लीला का वर्णन है;

---

१. शकाब्द १६२६। श्री वृन्दावनमध्ये माघ मास वदी तीज सोमवार के दिन ए पुस्तक संपूर्णम्। यथा पोथकं तथा लेखनं मम दोषो न दीयते।

वर्णन में राग भी है तथा साहित्यिक छन्द भी। 'गोपीजनवल्लभ' की लीलाओं का कवि ने रसिकों के मगल तथा उल्लास के लिए सरस वर्णन किया है। हिन्दी मगलकाव्य के इस दूसरे वर्ग की विशेषता यह है कि इसकी देवता राधा है इसलिए विवाह के स्थान पर सुखोल्लास ही इसका ध्येय है; इस वर्ग का आधार भागवतपुराण है; युद्ध आदि के स्थान पर इसमें आदि से अन्त तक क्रीड़ा तथा लीला का ही वर्णन है, कथा का अभाव वर्णन-प्राचुर्य से अपूर्ण हो जाता है।

'शबरीमंगल' नामक काव्य केवल ३ पृष्ठ का है; गोस्वामी तुलसीदास-रचित 'गीतावली' के अन्तर्गत अरण्यकाण्ड का यह अन्तिम (१७ वाँ) गीत है, इसमें सूहो राग के ८ बन्ध हैं। किसी भक्त ने 'गीतावली के उक्त अंश से प्रतिलिपि करके इसको अलग नाम 'शबरीमंगल' दे दिया होगा। सन्तोष की बात है कि लिपिकार ने इसको तुलसीदास की ही रचना बताये रखा है। यह गीत 'शबरी' से प्रारम्भ होकर भगवद्भक्ति के मंगलमय आशीर्वाद में पूर्ण होता है; 'मंगल' शब्द का प्रयोग अन्त में नहीं है और न किसी के विवाहोल्लास का ही वर्णन है; फिर भी लिपिकार ने कदाचित् निम्नलिखित पंक्तियों के कारण इस अंश को 'मंगल' नाम दे दिया है—

पुरई मनोरथ स्वारथहु परमारथहु पूरन करी।
अघ-अवगुनन्हि की कोठरी करि कृपा मुदमंगल भरी ॥

'जानकीमंगल' की हमको दो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, दोनों तुलसी की लिखी हुई; एक प्रति चार पृष्ठ की है। ये प्रतियाँ गोस्वामी तुलसीदास के प्रकाशित 'जानकीमंगल' से मेल नहीं खातीं; इनकी भाषा भी गोस्वामी जी की ग्रामीण भाषा से भिन्न है। सम्भवतः ये काव्य किसी दूसरे तुलसी की रचना हों। भाषा का सामान्य रूप देखिये—

श्री रघुवर घनस्याम सिया भई दामिनी।
मुनिवर मोर चकोर चातक भई भामिनी ॥
रामभुजा के निकट सिया-भुज यों लसै।
मरकत मनि के खंभ मनौ कंचन कसै ॥
सिय भूषण प्रतिबिम्ब राम छवि उर धरै।
मनु जमुनाजल मध्य दिव्य दीपक जरै ॥

गोस्वामी तुलसीदास ने 'जानकीमंगल' तथा 'पार्वतीमंगल' नाम के दो मंगल-काव्य लिखे हैं। 'जानकीमंगल' में २१६ छन्द हैं। काव्य का प्रारम्भ 'मंगल छन्द' में गुरु गणपति आदि की स्तुति से होता है। रचना के आदि तथा अन्त में कवि ने इस रचना का विषय सीता-राम का विवाह माना है—

सिय-रघुबीर-बिबाहु जथामति गावौं ॥ (२)
उपबीत ब्याह उछाह जे सिय-राम मंगल गावहीं ॥ (२१६)

'रामलला-नहछू' को 'ऋधि-सिधि-कल्यान' का दाता मानते हुए भी गोस्वामी जी ने मंगल-काव्य' नाम नहीं दिया, कदाचित् मंगल-काव्य के लिए

स्त्री-पात्र का प्राधान्य एक अनिवार्य योग्यता है। 'जानकी-मंगल' की कथा धनुर्यज्ञ से प्रारम्भ होकर विवाह पर पूर्ण हो जाती है; इस प्रसंग में जनक-वाटिका, रावण का प्रयत्न, जनक का क्षोभ, परशुराम-आगमन आदि घटनाएँ वर्ण्य नहीं समझी गईं। लेखक का उद्देश्य केवल मंगल-गान है, काव्य-रचना नहीं, फलतः काव्य की दृष्टि से इन लोक-गीतों का महत्त्व नहीं। अन्य लोक-काव्यों के समान 'जानकीमंगल' में वर्णन नहीं है—'बरात', 'जेवनार', 'दायज' आदि के विषय में भी 'भयउ विविध विधि' कहकर कवि आगे बढ़ जाता है। इस पुस्तक के आधार पर किसी पात्र का व्यक्तित्व कल्पित नहीं हो सकता। राम और सीता पुरुष और प्रकृति या ब्रह्म और माया भी नहीं है, कवि की भक्ति भी इनके प्रति अतिरेकमयी नहीं दिखाई देती। 'जानकीमंगल' तुलसी के अन्य काव्यों के समकक्ष रखने योग्य नहीं है, इससे कवि के कवित्व-भक्ति-समन्वय या साधारणातीत व्यक्तित्व का परिचय नहीं मिलता; उस युग के सामान्य विवाह की रूपरेखा ही इस लोक-गीत से गृहीत हो सकती है।

'पार्वतीमंगल', 'जानकीमंगल' से पूर्वकृत परन्तु प्रौढ़ रचना है; इसमें केवल १६४ छन्द हैं; आकार-प्रकार आदि में 'जानकीमंगल' इसी का आश्रित है। प्रारम्भ में कवि 'रामचरितमानस' के समान इस रचना में भी शिष्टाचार आदि का पालन करता हुआ अपवाद-विदूषित वाणी के उद्धार की प्रतिज्ञा करता है—

> गावउँ गौरि-गिरीस-विवाह सुहावन।
> पाप नसावन, पावन, मुनि-मन-भावन ॥२॥
> कवित-रीति नहिं जानउँ, कवि न कहावउँ।
> शंकर-चरित सुरसरित मनहिं अन्हवावउँ ॥३॥
> पर अपवाद-विवाद-विदूषित बानिहि।
> पावनि करउँ सो गाइ भवेस-भवानिहि ॥४॥

इन पंक्तियों से तीन निष्कर्ष स्वाभाविक हैं—

१. यह कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से है।

२. कवि की दृष्टि में दिव्य दम्पति का विवाह ही मंगल काव्य का उपयुक्त विषय है।

३. जो वाणी शिवा के द्वेषपूर्ण साम्प्रदायिक वर्णन से दूषित हो गई थी उसका उद्धार शंकर के लोक-कल्याणार्थ स्वीकृत विवाह के गान से ही हो सकता है।

पुस्तक के अन्त में कवि ने कुछ अन्य सैद्धान्तिक संकेत दिये हैं, जिनसे यह अनुमान होता है कि इन मंगल-गीतों की रचना नारी-समाज के लिए हुई थी, पुरुष-वर्ग के लिए नहीं—

> मंगल-हार रचेउ कवि-मति-मृगलोचनि ॥ (१६१)
> मृगनयनि बिधुबदनी रचेउ मनि मंजु मंगल-हार-सो।

उर धरहु जुवती-जन बिलोकि तिलोक-सोभा-सार सो।
कल्यान-काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइ हैं।
तुलसी उमा-शंकर प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइ हैं॥ (१६४)

इससे यह पुष्टि होती है कि विवाह आदि मंगलोत्सवों पर स्त्री-समाज में जो अभद्र गीतों की प्रथा थी उसको मिटाकर मंगल-गीतों का प्रचार करने के लिए ही तुलसी ने 'रामलला नहछू', 'पार्वतीमंगल', तथा 'जानकी-मंगल' लिखे; और क्योंकि परम्परा से मंगल-काव्य स्त्री-प्रधान होता है इसलिए 'मंगल' नाम केवल विवाह-मंगलों को ही दिया गया। इतर-सम्प्रदाय-द्वेषी शाक्त प्रभाव ने शिव और पार्वती का जो अदेवोपम, भयकर तथा अत्याचारप्राण-रूप पूर्वी मंगलकाव्यों मे चित्रित किया था उसके स्थान पर शिव और शिवा का मंगलमय रूप प्रतिष्ठित करना ही 'पार्वतीमंगल' का उद्देश्य है, आगे चलकर[1] अनुकरण पर 'जानकीमंगल' की भी रचना हुई।

अद्यावधि उपलब्ध मुद्रित तथा हस्तलिखित सामग्री के आधार पर हिन्दी के मंगल-काव्यों की कुछ स्वकीय विशेषताएँ ज्ञात होती हैं। एकपद एव यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि पश्चिमी मंगल-काव्य पूर्वी मंगल-काव्य का कितना ऋणी है। भाषा, छन्द, वर्णन और रचना-शैली की दृष्टि से विशिष्ट समाज की अपेक्षा लोक-सामान्य का नैकट्य तथा स्त्री-देवतात्मकता वहाँ कदाचित् पूर्व देश से ही आई होगी। परन्तु पश्चिमी मंगलकाव्यों की प्रवृत्ति पौराणिकता तथा वैष्णवता है, ये केवल विवाह-परक तथा स्त्री-जनोपयोगी हैं। यदि १६वीं शताब्दी से पूर्व के कुछ पश्चिमी मंगलकाव्य उपलब्ध होते तो संभवत: वे पूर्वी मंगलकाव्यों से अधिक भिन्न न दिखाई पड़ते, परन्तु हिन्दी मे मंगल-काव्य की परम्परा उस समय से मिलती है जब बँगला में भी असली मंगल-काव्यों का अभाव हो चला था और वैष्णव प्रभाव से वे भी पुराणपरक होने लगे थे। हिन्दी-प्रदेश में केवल उसी साहित्य को संरक्षण मिल सका है, जो पुनरुत्थानवादी तथा परम्परानिष्ठ है, अत: शाक्त तथा नाथ सम्प्रदायानुप्रेरित साहित्य की या तो अधिक रचना नहीं हुई या वह तमसाच्छन्न होकर लुप्त हो गया। मंगल-काव्य के समान अनेक काव्यरूपों की ऐसी ही निर्मम गाथा है।

---

१. रचना-काल सं० १६४३ (हि० सा० का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ५४२)

## १२ | विनय पत्रिका

गोस्वामी तुलसीदास के जितने ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, उन सबमें किसी न किसी रूप से 'हरिचरित' का ही संकीर्तन पाया जाता है, केवल 'विनयपत्रिका' इसका अपवाद है। यदि 'विनयपत्रिका' कवि की प्रथम रचना होती तो हम कह सकते थे कि सूरदास के समान इस भक्तकवि ने भी समय-समय पर विनय के पद रचे और फिर उनका संकलन एक ग्रन्थ के रूप में हो गया; परन्तु काल-स्थिति इसके विपरीत है– यह ग्रन्थ कवि की प्रथम नहीं अन्तिम रचना है। गोस्वामी जी ने 'प्राकृत जन गुनगाना' से अलग रहने की तो प्रतिज्ञा की थी, परन्तु 'संसय-विहँग उड़ावनहारी' 'प्राकृत-नर-अनुरूप' राम कथा को 'हर-पद-दायिनी' जानकर वे भिन्न-भिन्न शैलियों तथा भिन्न-भिन्न काव्य-भाषाओं में इसका प्रसार करते रहे। यह गोस्वामी जी की लोकसेवा थी कि 'नानापुराण निगमागम सम्मत' 'रघुनाथ-गाथा' को उन्होंने 'भाषा' में भक्त-मात्र के लिए सुलभ बना दिया; इस काम को कोई दूसरा प्रतिभाशाली 'वचन प्रवीन' भी कर सकता था— भले ही उसके कवित्व से पाठकों के मानस में उतनी 'प्रीति पुनीत' न उत्पन्न होती। संसार का कार्य 'स्वान्तः सुखाय' किये जाने पर भी, निलिप्त रहने वाले कर्त्ता को भी विशुद्ध परमार्थ नहीं प्राप्त करा सकता, क्योंकि उसमें द्वैत की भावना रहती है और जहाँ द्वैत है वहाँ राग-द्वेष भी है, यही कारण है कि 'रामचरितमानस' जैसे भक्तिरत्नाकर में भी खल, शठ, 'निसिचर', भक्ष्याभक्ष्य खाने वाले तापस और सिद्ध, तथा 'अभेदवादी ज्ञानी नर' आदि पर कटु प्रहार किया गया है। इतना ही नहीं कथा में ऐसे पात्रों का आना अनिवार्य है जिनके प्रति कवि की आत्मीयता नहीं प्रत्युत घृणा उमड़ती दिखलाई पड़ती है, रामकथा के कैकेयी, रावण आदि पात्र इसी वर्ग में आते हैं, जिनको तुलसी के आदर्श पात्रों ने भी खरी-खोटी सुनाई हैं। कहने का तात्पर्य यह कि चाहे प्राकृत नर-गाथा हो चाहे 'प्राकृत-नर-अनुरूप' गाथा हो, उसमें मायाजन्य द्वैत आ जाने के कारण रागद्वेष आ जाता है और परमार्थ में बाधा उपस्थित होती है। कदाचित् इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास ने अपने जीवन का बहुत कुछ समय रामकथा में लगाकर

भी 'विनयपत्रिका' जैसे एक पारमार्थिक काव्य की रचना आवश्यक समझी; इस प्रकार वे अपने को 'प्रेममगति प्रनपायनी' का अधिक उपयुक्त अधिकारी बना सकते थे।

विनय के हमारे साहित्य में न जाने कितने ग्रन्थ होंगे, और कवि-जन किसी श्रद्धेय या स्नेही के लिए पत्र या पत्रिका' भी लिख दिया करते हैं, परन्तु इन दोनों गुणों का एक ही स्थान पर संयोग प्रभूतपूर्व है — 'विनयपत्रिका' ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसका नाम भी नितान्त मौलिक है, और उस नाम का कारण उपर्युक्त संयोग भी। वर्णनात्मक काव्यों में कवि का व्यक्तित्व तो रहता ही है पाठकों का एक हलका सा चित्र भी कवि की आँखों के सामने रहता है, कवि जानता है कि उसको पाठकों से क्या कहना चाहिए जिससे अभीष्ट प्रभाव की उत्पत्ति हो सके—तुलसी इस गुण में औरों से आगे ही दिखलाई देते हैं वे ठीक समय पर ठीक पात्र के मुख से कुछ कहलवाकर अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करते हैं—घोर, 'भूत-जन' की सेवा करने वालों की दुर्गति को अप्रस्तुत बनाकर भरत ने कौशल्या के सम्मुख जो शपथ ली थी वह प्रसिद्ध ही है। क्या आश्चर्य है कि ऐसा कवि अपनी कमजोरी को छिपाता ही चला जाता है, क्योंकि यदि पाठक उसकी कमजोरी को जान जावेंगे तो उनके मन पर उसके कथन का उतना प्रभाव न पड़ेगा। और अपनी दुर्बलता को छिपाना या कम से कम उसकी अवहेलना करना भारतीय विचारकों को रुचिकर नहीं लगा, शृंगारी कवि भी अन्तिम दिनों में भक्त बनने का प्रयत्न करते रहे हैं। अस्तु, 'विनयपत्रिका' अन्तिम रचना क्यों है, वह गोस्वामी जी के दूसरे ग्रन्थों से नितान्त भिन्न क्यों है, इसका नाम एकदम इतना अनोखा क्यों है—आदि-आदि समस्याओं का कुछ-कुछ रहस्य हमारी समझ में आ सकता है।

वर्णनात्मक काव्य में हमको बन-ठनकर ही पाठकों के सामने आना पड़ता है, पत्र में इसकी आवश्यकता नहीं, जो इतना निकट है कि हमारे हृदय की बात सुन सकता है उससे क्या दिखावा और क्या छिपाना? पत्र लेखन स्वयं एक कला है, जिसका सौन्दर्य हृदय की सचाई पर निर्भर है—यह प्राकृतिक सौन्दर्य है कैंची से काट-छाँट कर बनाई गई कृत्रिम कला नहीं। 'विनयपत्रिका' में यदि काव्य के बाह्यपक्ष की खोज की जावेगी तो शोधक को अपने परिश्रम पर हर्ष नहीं हो सकता, वर्णन की कला का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं आता, सौन्दर्य भी अति विरल हैं, छन्द साहित्यिक नहीं है, और भाषा का स्थिर रूप नहीं मिलता। यदि बाह्य सौन्दर्य नाम की कोई वस्तु यहाँ मिलती है तो वह नाद-सौन्दर्य भर है, जिससे हृदय की तन्मयता बढ़ती है कवि की प्रशंसा को हम लालायित नहीं होते। कोरा साहित्यकार जब सिद्धान्तों की कसौटी पर इस ग्रन्थ की कला को कसेगा तो वह यहाँ मानसकार कवि तुलसी का पेंसिल स्कैच ही पा सकेगा, यथार्थ चित्र नहीं। भारतीय भक्त हृदय से अपरिचित स्कॉलरों को तुलसी की रचनाओं में सबसे अरुचिकर कदाचित् 'विनयपत्रिका' ही लगती है। संस्कृत शब्दावली

का अविच्छिन्न प्रवाह, अनुस्वारान्त शब्दनिर्माण की अस्वाभाविकता, आचर विस्तृत समास, असाहित्यिक शुष्क सांग रूपक, राम राम रटु, राम राम राम राम जपु जीहा' या 'राम जपु, 'राम जपु, राम जपु बावरे' की निरर्थ रट, और अपनी हीनता एवं राम की बड़ाई को बार-बार सुनकर उनका घुटने लगता है। न मनोहर वर्णन है, न मंजुल कथोपकथन, न कथा का प्रवाह न सौन्दर्य की छटा। इस अनलकृत सचाई का कारण इस ग्रन्थ का 'पत्रिका' रूप में उपस्थित होना है।

जो पत्र अपने बराबर वाले को लिखा जाता है उसमें उसके व्यक्तित्व का ध्यान भी रखा जा सकता है। यदि पत्र अपने से बड़े आश्रयदाता आदि को लिखा जाए तो उसमें उचित-अनुचित को सोचे बिना एक शब्द का प्रयोग भी हम नहीं कर सकते। परन्तु कुछ पत्र ऐसे व्यक्तियों को लिखे जाते हैं जिनसे हमारा तनिक भी दुराव-छिपाव नहीं—वे हमारी अच्छी बातें भी जानते हैं साथ ही बुरी बातें भी, हम उनसे रूठ भी जाते हैं, उन पर उबल भी पड़ते हैं, कभी-कभी उनके सामने आँसू बहाने लगते हैं, कभी दूसरों की उनसे शिकायत करने लगते हैं—जब मैंने तुमको अपना समझा है तो अपना हृदय तुम्हारे सामने खोल कर रखने में मुझको क्या संकोच, मैं जैसा भी हूँ तुम्हारा ही हूँ, तुम अपनाओ या ठुकराओ—तुम्हारी इच्छा। भगवान् के साथ भक्त का ऐसा ही सम्बन्ध है। जो सर्वव्यापक और अन्तर्यामी है उससे दुराव-छिपाव तो संभव ही नहीं, हाँ यदि हम अपनी ओर से सब कुछ उसके सामने ठीक-ठीक निवेदन कर दें तो हमारा हृदय भी हलका हो जाएगा और वह भी हमारे अनन्य प्रेम से पिघल जाएगा। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामी जी ने इसी नीति का सहारा लिया है, यही स्पष्टवादिता और अनन्यता है—

(क) खोटो खरो रावरो हौं, रावरी सौं, रावरे सों
झूँठ क्यों कहौंगो ? जानो सबही के मन की।
(पद संख्या ७४)

(ख) जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ?
काको नाम पतितपावन जग ? केहि अति दीन पियारे ? (१०१)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसी के व्यक्तित्व का जितना स्पष्ट तथा स्वाभाविक चित्र इस ग्रन्थ में मिल सकता है उतना अन्यत्र नहीं। तुलसी मुख्यतः भक्त थे और उच्चकोटि के अनन्य भक्त; 'विनय-पत्रिका' में उनके भावुक भक्त हृदय के सच्चे उद्गार काट-छाँट से रहित, स्वाभाविकता तथा टीमटाम से शून्य रूप में विकसित होकर दूसरे भक्तों के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। भावों की स्वाभाविकता तथा अभिव्यक्ति की सहजिमता की कसौटी पर कसी जावे तो भी 'विनय-पत्रिका' गोस्वामी जी की सर्वश्रेष्ठ कृति ठहरती है।

'विनयपत्रिका' में २७९ पद हैं, परन्तु न कोई कथा है और न कोई योजना—प्रयत्न करने पर भक्ति के ६ क्रम तो मिल भी सकते हैं, कारण यह है

कि कवि को तो एक पत्र लिखना है, किसी योजना के अनुसार (भक्तिरस का ही सही) काव्य नहीं लिखना, कभी वह जीव को समझाने लगता है (७४), कभी भगवान से कुछ कहता है (७५-८१) कभी वह पश्चात्ताप करने लगता है (८२-८५) और कभी मूढ़ मन को 'सिखावन' सुनाता है (८७) और ये सब बातें न जाने कितनी बार कितने स्थलों पर आई हैं—यदि योजना का ध्यान रहता तो एक प्रकार के पद एक साथ ही आते। मन को बार-बार समझाने पर भी जब मन मूढ़ता न छोड़ सका (९०) तो भक्त ने हरि से अपने मायाजन्य नृत्य की शिकायत की (९१) और फिर उसको बड़ी ग्लानि उत्पन्न हुई (९२) सोचा करुणा-निधान भगवान की कृपा (९३) मुझ पर क्यों नहीं हो रही, मुझको उन्होंने भुला क्यों दिया (९४), शायद इसका कारण मेरे अवगुण (९५-७) हैं। इस प्रकार अनन्य भगवद् भक्ति के सात्विक उद्गार 'विनय-पत्रिका' में भरे पड़े हैं। यदि तुलसी के इस ग्रन्थ की तुलना 'सूरसागर' के विनय खंड (प्रारंभ के २२३ पदों) से की जावे तो ध्यान दो बातों पर जाता है। प्रथम है 'विनयपत्रिका' का पत्रिका-रूप, जिसके कारण इसमें 'सूरसागर' के उक्त खंड की अपेक्षा कहीं अधिक व्यक्तित्व की छाप मिलती है। द्वितीय यह कि 'विनय-पत्रिका' अधिक प्रौढ़ रचना है—इस अवस्था तक आते-आते कवि के भावों में वह कोरी गर्मी नहीं रही, वह कौशल अनावश्यक हो गया, रह गया केवल संसार के अनुभव तथा शास्त्रों के मनन के अनन्तर शान्त एवं सात्विक हृदय, जिसका सर्वस्व भगवान् राम तक ही सीमित है—उसका ज्ञान उसकी समझ उसका विश्वास, उसका प्रेम सब कुछ उन्हीं के लिए है, उन्हीं की कृपा से उत्पन्न, उन्हीं के चरणों में समर्पित, उद्वेग-विहीन, हृदयप्रसार से आप्लावित; यह भक्ति-सुधा-निधि तृषातुर भक्तों का अनन्य एवं अमोघ आश्रय है।

प्रौढ़ता (कला की नहीं, भक्ति की) की दृष्टि से सूरसागर के विनय-खंड तथा 'विनयपत्रिका' की तुलना विस्तार-पूर्वक भी की जा सकती है। 'सागर' में 'वासुदेव की बड़ी बड़ाई' का लम्बा चौड़ा वर्णन है, अनेक अवतारों में उनके कृत्य और उनकी महिमा, उनका स्वभाव, भक्तवत्सलता आदि; फिर 'माया महा-प्रबल' के अनेक रूप आलंकारिक भाषा में उपस्थित किये गये हैं; इस प्रकार संसार की असारता तथा भगवान् की भक्त-वत्सलता की तुलना कर कवि मन को 'भगवन्त भजन' की प्रेरणा देता है। अपनी दीनता की चर्चा शायद संसार की असारता से भी अधिक है, बीच-बीच में अनेक पौराणिक प्रसंग आ गये हैं। सम्पूर्ण खंड पढ़ चुकने के बाद भी पाठक के मन को आनन्दमग्न कर सकने वाले स्थल प्रायः नहीं मिलते—वैराग्य तथा करुणा के स्थल तो अनेक हैं। दूसरी ओर 'विनयपत्रिका' में अधिकतर पद स्तुति के हैं, पौराणिक प्रसंग न होने के बराबर है, अवतारों की चर्चा एक दो पदों में ही हो जाती है, संसार की असारता की चर्चा नहीं है प्रत्युत संसार में अधर्म की ओर ध्यान दिलाया गया है, अपनी दीनता के स्थान पर मन की प्रबलता को ही बार-बार भगवान के सामने रखा है। 'पत्रिका'

में पश्चात्ताप नहीं मिलता, विश्वास है; शिकायत नहीं है, निवेदन है; संसार से वैराग्य नहीं, समत्व दृष्टि है; भगवान की लीला नहीं गाई गई, स्तुति की गई है। सूर का मानो भगवान् से सदा ही परिचय हुआ था इसलिए उनके हृदय में बहुत आवेग है, उनको बहुत कुछ कहना है, सब कुछ मजा बनाकर; परन्तु तुलसी तो भगवान् के पास हो चुके थे उनको आनन्द के गीत गाने हैं और बार-बार इसी स्थिति की ('निमग्न भगति रघुपति की') कामना करनी है—वे आनन्द से गाते हैं और मुसकराते हैं, कभी शिकायत कर देते हैं संसार की या मन की, कभी मना लेते हैं भगवान् के दूसरे सेवकों को; उनका विश्वास उनके गहगहाते ओठों पर झलक रहा है—

> मारुति मन, रुचि भरत की लखि लखन कही है।
> कलि-कालहुँ नाथ! नाम सों प्रतीति-प्रीति एक किंकर की निबही है।
> सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
> कृपा गरीब-निवाज की, देखत गरीब को साहब बाँह गही है।
> बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
> मुदित माथ नावत "बनी तुलसी अनाथ की" परी रघुनाथ सही है।
> (पद २७९)

## II

विनयपत्रिका का प्रारंभ विनय के पदों से हुआ है, परन्तु यह विनय तुलसी के इष्टदेव की न होकर दूसरे देवों की है। प्रथम पद में 'मुद-मंगल-दाता' 'विद्यावारिधि बुद्धिविधाता' गणेश जी की वंदना है, और दूसरे में 'लोक प्रकाशी' 'तेज-प्रताप-रूप' सूर्य भगवान् की स्तुति है। गणेश या सरस्वती की उपासना ग्रन्थ-रचना से पूर्व निर्विघ्न समाप्ति के लिए सभी मध्यकालीन कवि किया करते थे। सविता या सूर्य विवेक अथवा सम्यक् ज्ञान का प्रतीक होने के कारण वेद में भी स्तुत्य ठहराया गया है। तदनन्तर शिवस्तवन है, और बहुत ही बड़ी मात्रा में। इसके कई कारण जान पड़ते हैं। एक तो सीधी-सादी बात है कि गोस्वामी जी ने शैवों और वैष्णवों के झगड़े को मिटाकर उनमें समझौता कराने का सफल प्रयत्न किया है। परन्तु दो विशेष कारण भी हैं। प्रथम यह कि भगवद्-भक्ति से मन को बहकाने वाला देव काम है—मन में अनेक प्रकार की कामनाएँ जगती हैं, जिनमें स्त्री-विषयक तथा यशोविषयक मुख्य हैं—शिवजी काम के शत्रु हैं, यदि उनकी स्तुति की जावे तो भक्ति का सबसे बड़ा विघ्न दूर हो सकता है; तुलसी ने इसीलिए शिव को इतना महत्व दिया है[1] और माया के काम रूपी रूप

1. देहु कामरिपु रामचरनरति। (३)
   देहु कामरिपु रामचरनरति। (७)
   देहि कामारि श्रीरामपदपंकजे।
   मनवरत गतभेदमाया। (१०)

के भाहरण'[1] की प्रार्थना की है। द्वितीय यह कि शिव स्वयं राम के बड़े भक्त हैं, उन्होंने राम की सेवा के ही लिए हनुमान[2] का जन्म लिया था, हनुमान उसी प्रकार काम के शत्रु (कामजेनाग्रणी), विविध शास्त्रों के ज्ञाता (विश्वविद्याग्रणी) अनुभ विग्रह तथा 'मंगलागार' है[3]। रामभक्ति के लिए राम के अनन्य भक्त हनुमान की उपासना अनिवार्य है—वह उनके 'वानराकार' का ध्यान हो या 'विग्रह-पुरारि' का।

तदनन्तर देवी कालिका (१५, १६), गंगा (१७-२०), यमुना, काशी, चित्रकूट की स्तुति है। गोस्वामी जी ने अब तक मानव देहधारी जितने देवों का गुणगान किया था उनमें दो बातों की कामना की है—एक तो है 'विमल भगति रघुपति की' और दूसरी है उस देव-विशेष का वह गुण जिसके कारण वह प्रसिद्ध है यथा गणेश से सद्बुद्धि, शिव से कामविजय आदि। इस प्रकार उनका यह मत है कि भिन्न-भिन्न देवता 'कोसलाधीस जगदीस जगदेकहित अमितगुन' भगवान् राम के अंश, कला या गण विशेष हैं—देवों की सामर्थ्य भी रघुपति की कृपा पर ही निर्भर है, जो गुण भिन्न-भिन्न देवों में मिलते हैं वे सबके सब इकट्ठे अपने मूल स्रोत भगवान् राम में ही हैं। तीर्थ आदि के गुणगान में मन का शुद्ध आह्लाद है, कामना यदि कोई है तो यही कि उस स्थान पर निवास करके राम नाम जपते हुए अपने जीवन को सफल बनालें[4]।

अब राजा राम की राजसभा आती है, पुस्तक का वास्तविक प्रारम्भ यहीं (पद संख्या २५) से समझना चाहिए। यद्यपि इससे पूर्व भी एक पद (सं० १८) 'जयति' से प्रारंभ हुआ है, फिर भी समोचित जय-जयकार का क्रम यहीं से लगता है मानो राजसभा में प्रवेश करते ही किसी ब्राह्मण या ऋषि ने आशीर्वाद आरंभ कर दिया हो, या कोई चारण राजपुरुषों के सभा में प्रवेश करते ही जय-जय करने लगा हो—सौंक पदों का ऐसा ही प्रारंभ है और केवल प्रारंभ ही क्यों अनेक पद में सभी अधीन बन्ध 'जयति' से ही चलते हैं। हनुमान की स्तुति में पूरे १२ पद हैं, फिर लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न की एक-एक पद में वंदना है, सीता की विनय में २ पद लगाये हैं—उस दरबार में जिसका जैसा स्थान है, वैसा ही

---

1. हरहु निज माया। (६)
2. रघुबीर-हित देवमनि रुद्र अवतार। (२१)
3. पदसंख्या २५ से २९ तक।
4. (i) तुलसी तव तीर-तीर, सुमिरत रघुबंस-बीर
   बिचरत मति देहि···(१७)
   (ii) तुलसी बसि हरपुरी राम जपु जो भयो चहै सुपासी। (२२)
   (iii) तुलसी जो राम-पद चहिए प्रेम।
   सेइय गिरि करि निरुपाधि नेम। (२३)

सम्मान[1] कवि ने भी किया है। आगे के १६ पद (४२ से ६१ तक) विनयपत्रिका के सार हैं, इनमें राजराजेन्द्र जानकीनाथ की स्तुति सुन्दर से सुन्दर तथा मनोहर शब्दावली में की गई है—संस्कृत शब्दों का अकृत्रिम प्रवाह, सहजोद्भूत विशेषण-राजि, चरणों की लय और गति कवि की तन्मयता का परिचय देती हैं—यदि ये पद समझ में एकदम न आवें (यद्यपि सामान्य संस्कृतज्ञ के लिए भी कठिन नहीं हैं) तो भी इनके अन्तर्निहित सौन्दर्य से मन में एक सहज उल्लास का आविर्भाव होता है।

आगे के पदों में प्रायः या तो राम की स्तुति है या मन अथवा जीव को सीख। तुलसी की दार्शनिक विचारधारा का अनुमान इस ग्रन्थ में ऐसे ही पदों से लगता है। मन से एक ही बात कहनी है कि रामनाम का जप करो (६५-६), इसके बिना अन्यथा कल्याण नहीं हो सकता। परन्तु मायाग्रस्त जीव को माया की क्षणभंगुरता तथा निस्सारता बतलाकर उसको इस संसार-रात्रि के मोह से जगाकर ज्ञानभानु का प्रकाश दिखाना है, अतः जीव के हेतु कहे गये पदों में वेदान्त के दृष्टान्तों द्वारा 'जग-जामिनी' की बार-बार चर्चा है (७३-४)। कवि का मत है कि यह जागरण भगवत्-कृपा से ही हो सकता है और जगने का अर्थ होगा मूढ़ता (अर्थात् मायाविषयक रुचि) का त्याग एवं साथ ही साथ रामचरण में अनुराग[2]। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से संचित मोह मल के समान आत्मा पर आवरण बना हुआ है जिसके कारण सब कुछ विपरीत ही जान पड़ता है; शास्त्रों में इस 'मोहजनित मल' को छुड़ाने के लिए अनेक उपाय बतलाये गये हैं, परन्तु तुलसी के विचार से यह मल केवल 'रामचरण-अनुराग'[3] से ही धोया जा सकता है। जीव को समझाने वाली इन बातों पर शंकराचार्य का प्रभाव स्पष्ट है तुलसी के मत से जागरण का अर्थ है संसार की सारी आशाओं को छोड़कर उसी भाव से भगवच्चरणों में अनुरक्ति।

जिन पदों में राम की स्तुति है उनके दो विषय मुख्य हैं—अपनी दीनता तथा भगवान् की कृपालुता। यह परम्परा का पालन ही समझना चाहिये, दूसरे भक्त कवियों ने भी यही किया है—मूढ़ता (६०), मंदता (६२), अघ (६१),

१. 'मानस' में लक्ष्मण तथा भरत को जो उच्च स्थान मिला है वह यहाँ न मिल सका, 'पत्रिका' में तो राम के अनन्तर दूसरा स्थान उनके अनन्य सेवक हनुमान का है, कारण कदाचित् यह हो कि पवन-पुत्र में शुद्ध भक्ति है, लक्ष्मण आदि में भक्ति के साथ सामाजिकता भी काफी मात्रा में मिल गई है।

२. जानकीस की कृपा जगावती, सुजान जीव,
जागि, त्यागु मूढ़तानुरागु श्री हरे। (७४)

३. तुलसी जप तप, दान, ज्ञान तप सुद्धिहेतु श्रुति गावै।
रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै। (८२)

भवगुन (६६) आदि भक्त के पेटेण्ट गुण हैं, इनके सहारे गरीबनिवाज (६६) पतितपावन (१०१) कृपानिधि (११०) भगवान के अनुग्रह का वह विशेष अधिकारी बन सकता है। दूसरे भक्तों के समान तुलसी ने भी भगवान् को उनके विरद का ध्यान दिलाया है (६४) परन्तु अधिक नहीं, प्राय. तो वे अपनी ही भूल स्वीकार करते हैं—तुमने तो मेरे साथ बहुत कुछ किया, देवों के लिए दुर्लभ यह मानव शरीर दिया जिससे मैं अनेक साधन कर सकता था, (१०२) फिर भी मैंने ऐसे कर्म किये जिनसे स्वप्न मे भी सद्‌गति नहीं मिल सकती (११७) तुम्हारी कृपा से अब मैं जग गया हूँ (१०५) तुम्हारी ही कृपा से अब संसार मुझको बाँध न सकेगा (१८८) मेरा मन तुम्हारे चरणों में लग रहा है (२३४)।

परन्तु बार-बार बहकने का कारण क्या है? वही जिसकी शिकायत अर्जुन ने योगिराज कृष्ण से की थी—मन बड़ा चंचल तथा बलवान् है, इसलिए उसको वश मे करना वायु को वश मे करने के समान अति दुष्कर है[1]। मन को बहुत समझाया जाता है अनेक प्रकार से (८३-६०) परन्तु इस मन को विश्राम नहीं है यह सहज सुख को छोड़ कर इन्द्रिय-जन्य सुख के पीछे चक्कर काटता रहता है (८८)। यह ऐसा पागल है कि रामभक्ति रूपी सुरसरिता को छोड़कर ओस-कणों से प्यास बुझाना चाहता है (६०)। मनुष्य कितना ही प्रयत्न करे परन्तु इस अतिशय प्रबल तथा अजय मन को जीत नहीं सकता। इसको भगवान् की प्रेरणा से ही इन्द्रियार्थों से हटा कर वश मे करना संभव है[2]। वस्तुत: मन को वश में करना आवश्यक नहीं। प्रत्युत मन जिस प्रकार विषय मे अनुरक्त रहता है उसी तल्लीनता से राम में अनुरक्त हो[3], तभी कल्याण है। और इसका साधन एक ही है भगवान् के चरणों मे एकदम गिर पड़ना[4], तभी मन को यह पवित्र विश्वास होगा कि प्रभुपद से विमुख होकर स्वप्न में भी सुख नहीं है[5] और

---

१. चचल हि मनो कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्य संयमन मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

२. हौं हार्‌यो करि जतन विविध विधि, अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होय तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥ (८६)

३. यों मन कबहूं तुमहि न लाग्यो।
ज्यों छल छाँड़ि सुभाव निरन्तर रहत विषय अनुरागो। (१७०)

४. जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे?
काको नाम पतित पावन जग? केहि अति दीन पियारे। (१०१)
कहाँ जाउँ कासों कहौ, और ठौर न मेरो? (१४६)
नाहिन आवत आन भरोसो। (१७३)
कहाँ जाउँ? कासों कहौं? को सुनै दीन की? (१७६)

५. उपजी उर प्रतीति, सपनेहुं सुख प्रभुपद विमुख न पैहौं। (१०४)

मन राम-चरण-कमल का प्रणधारी मधुकर बन सकेगा[1]। ध्यान रखना होगा कि भक्ति के इन पदों को आत्मविषयक हम नहीं मान सकते; जिस समय इनकी रचना हुई थी उस समय तक तुलसी का मन के साथ द्वन्द्व न चलता होगा क्योंकि उस समय तक तो निश्चय ही उनके हृदय में अटल प्रतीति बस गई थी, वस्तुतः ये पद भक्ति की ओर अग्रसर होने की प्रारम्भिक अवस्था की सूचना देते हैं—गोस्वामी जी ने अपने अनुभव से तथा दूसरे लोगों को देखकर जो बाधा तथा साधन देखे उन्हीं को पाठकों के लिए संचित दिया। यही कारण है कि विनय-पत्रिका के ये पद सामान्य भक्त के हृदय में भी एक पवित्र गूँज उत्पन्न कर देते हैं।

गोस्वामी जी मुख्यतः भक्त थे, कोरे ज्ञानी मात्र नहीं। ज्ञानी (या दार्शनिक) जिस तर्क द्वारा ब्रह्म की चर्चा करते हैं उससे उनके अंतःकरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनके मन में विषय-वासना जगी रहती है और कर्मवश कोटि-कोटि योनियों में उनको घूमते रहना पड़ता है[2]। ज्ञानी भी यह जानता है कि संसार देखने में ही सुन्दर है, वास्तविकता में बड़ा भयंकर है।[3] परन्तु 'रघुपति भगति और संत सगति' के बिना मन को इस प्रकार का विश्वास नहीं होता। वेद-शास्त्रों में ज्ञान-भक्ति आदि[4] जिन पारमार्थिक साधनों का उल्लेख है वे सबके सब सत्य हैं निस्सन्देह परन्तु मन से वासना नहीं जाती[5], वह केवल भगवत् कृपा से ही मिट सकती है[6]। यह वासना क्या है ? द्वैत[7] की भावना अर्थात् अपने और पराये का भेद[8] जिससे मेरा-तेरा यह झगड़ा होता है, जो सारे दुःख का कारण है।

यहाँ द्वैत से गोस्वामी जी का अभिप्राय ठोस व्यावहारिक है, दार्शनिक

---

१. मन-मधुकर पन करि तुलसी-रघुपति-पद-कमल-बसै हौं। (१०५)
२. वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।
   निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई।
   जब लगि नहिं निज हृदि-प्रकास अरु विषय-आस मन माहीं।
   तुलसीदास तब लगि जग जोनि भ्रमत, सपनेहु सुख नाहीं। (१२१)
३. अनविचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी। (१२१)
४. ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य, झूठ कछु नाहीं। (११६)
   बहु उपाय संसार तरन कहँ बिमल गिरा स्रुति गावै। (१२०)
५. अति बासना न उर तें जाई। (११८)
६. तुलसीदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मनमाहीं।
७. द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी। (११३)
   जो कृत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा। (१२४)
   द्वैत मूल, भय सूल, सोकफल, भवतरु टरै न टारयो। (२०३)
८. नहिं न निज-पर-बुद्धि, शुद्ध ह्वै रहै न राम-लय लावै। (२०१)
   तुलसीदास 'मैं मोर' गये बिनु जिय सुख कबहुं न पावै। (१२०)

कदापि नहीं। अपने पराये के साथ ही सुख-दुख, हर्ष-विषाद, विस्तार-संकोच सब चिपटे हुए हैं।[1] आत्मोद्धार का एकमात्र यही[2] राज-पथ है, सभी विघ्नों से रहित, जो भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होता है। राम 'बिनु कारन पर-उपकारी[3] (१६६) और हेतुरहित कृपालु' (११४) हैं, यदि उनसे सच्चा प्रेम करना है तो वह भी 'हेतु-रहित' (१०३) होना चाहिये। इसलिए सगुण उपासक भक्त मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते।[4] वे भगवान की 'अविरल भगति बिसुद्ध' (उत्तर काण्ड, मानस) को चरम लाभ मानते हैं। 'पत्रिका' में गोस्वामी जी ने किसी दार्शनिक सिद्धान्त का खंडन नहीं किया, ज्ञान-भक्ति का झगड़ा भी नहीं चलाया, तर्क-वितर्क तो स्वयं भ्रम है,[5] इसको भगवान् की कृपा से छोड़कर जब विमल विवेक की प्राप्ति होती है तभी सहज सुख मिल सकता है। संसार के बन्धन अपने आप शिथिल पड़ जाते हैं, मन भगवद्-भजन तथा साधु-संगति में लगने लगता है—यही मानव-जीवन का फल है।

III

कला-सौन्दर्य की दृष्टि से भी विनयपत्रिका किसी से पीछे नहीं रहती, और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसमें नाद-सौन्दर्य गोस्वामी जी के अन्य ग्रन्थों से अधिक है। भगवान् की स्तुति में तन्मय होकर जब भाव-विभोर भक्त गाने लगता है तो सरस्वती उसकी वशगा बनकर उसके संकेत पर नाचती है। विमल संगीत की प्रत्येक तान और लय मानस में पवित्र भावों का स्फुरण करने लगती है, ऐसा जान पड़ता है मानों कवि के साथ हम भी अपनी सभी वासनाओं और कामनाओं को अंजलिगत करके भगवान् राम के पाद-पद्मों पर समर्पित करने में कृतकृत्य हो गये। इस प्रकार का सौन्दर्य अनेक स्थलों पर भिन्न-भिन्न रागों में प्रस्फुटित हुआ है—

(क) श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं (४५)
(ख) जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव ··· । (७४)
(ग) जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे? (१०१)
(घ) यों मन कबहूँ तुमहि न लाग्यो। (१७०)
(ङ) नाहिन आवत आन भरोसो। (१७३)

---

१. देखि आन की बिपति परम सुख, सुनि सम्पति बिनु आगि जरौं। (१४१)
२. गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लगत राज-डगरो सो। (१७३)
३. अस प्रभु दीन बन्धु हरि, कारन रहित दयाल। (बाल काण्ड, मानस)
कारन बिनु रघुनाथ कृपाला (अरण्य काण्ड)
बिनु कारन दीन दयाल हितं। (लंका काण्ड)
४. सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं।
तिन्ह कहुं राम भगति निज देहीं॥ (लंका काण्ड)
५. तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै। (१११)

(घ) राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे। (१८९)
(ङ) मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो। (२४५)

कितने उदाहरण दिये जा सकते हैं? जहाँ प्रत्येक धातु-खंड कांचन हो वहाँ कसौटी क्या निर्णय देगी? यदि सात्विक भाव से भगवान् की अर्चना में गाया जावे तो 'विनय-पत्रिका' का प्रत्येक पद भक्तिभेद तथा भाव-भेद से दूसरे पदों से भिन्न होता हुआ भी एक ही दिव्य आनन्द की सृष्टि करता है। 'विनय-पत्रिका' गीतकाव्य है, संगीत की विशेषता साहित्यिकों की दृष्टि में भी विशेष महत्त्व रखती होगी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भक्ति तथा संगीत के इस मणिकाञ्चन संयोग से अभिभूषित जितने पद गोस्वामीजी के मिलते हैं उतने किसी अन्य कवि या कवयित्री के नहीं।

'पत्रिका' का दूसरा मुख्य गुण इसकी भाषा है। यद्यपि आदि से अन्त तक भाषा का एक ही स्थिर रूप नहीं है, फिर भी देवार्चन में देववाणी की मनोरम छटा मानो दैवी प्रवृत्तियों के जगाने का ही काम करती है। तन्मयता वाले पदों में भी भाषा दोनों प्रकार की हो सकती है, परंतु जहां स्तुति है वहाँ संस्कृत-शब्दावली का साम्राज्य भव्यता के लिए अनिवार्य रूप में छागया है, भगवान् राम की स्तुति में इस बात पर और भी अधिक ध्यान जाता है। वाक्य तक संस्कृत के से हैं, समासों का भी वैभव देखने योग्य है। परन्तु जहाँ तक रचना का सम्बन्ध है वह संस्कृत की नहीं है —उस पर संस्कृत का प्रभाव है, वह संस्कृत की सहचरी है। फलतः संस्कृतज्ञ इस भाषा में दोष निकाल सकते हैं, और असंस्कृतपन से तंग आ सकते हैं। कुछ उदाहरण देखिए :—

(क) येन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं, तेन सर्वं कृतं कर्मजालं।
येन श्रीरामनामामृतं पानकृतम निशमनवद्यमवलोक्य कालं॥ (४६)
(ख) वेदबोधित-कर्म-धर्म-धरणी-धेनु-विप्र-सेवक-साधु-मोदकारी। (४३)
(ग) जयति निगमागम-व्याकरन-करनलिपि काव्य-कौतुक-कला कोटि सिंधो। (२८)

कुछ शब्दों में विभक्तियाँ संस्कृत की मिलेंगी – विशेषतः सम्बोधन में तथा एक वचन की धातुओं में—प्रथम द्वितीय पुरुष में भवतु, पाहि, विष्णो, गायन्ति, जयति, सिन्धो। यह संस्कृतपन केवल स्तुति में पाया जाता है, भव्यता के ही लिए है, इससे संगीत का सौन्दर्य भी बढ़ जाता है। गोस्वामी जी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे फिर भी उन्होंने संस्कृत व्याकरण के अधीन अपनी भाषा को नहीं होने दिया। आगे के पदों में सामान्य विनय है वहाँ संस्कृत-शब्दावली तक का यह प्रश्न नहीं आता—

मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।
या के लिए सुनहु करुनामय मैं जग जनमि जनमि दुख रोयो। (२४५)

विनयपत्रिका के भव्य स्थलों पर अलंकारों की प्रचुरता पर भी पाठकों का ध्यान गया है। यों तो गोस्वामी जी का साहित्यिक रूप 'मानस' में भली भाँति

स्पष्ट हो चुका था, परन्तु रूपक का मोह वे यहाँ भी न छोड़ सके। रूपक मानस के समान बड़े-बड़े तो नहीं हैं परन्तु संख्या में कम न होंगे। 'कामधेनु कलि कासी' (२२) 'वन-उमाकांत' (१४) आदि तो प्रसिद्ध सांगरूपक है। स्थान-स्थान पर आनेवाले छोटे रूपकों में विशेषता यह है कि सौन्दर्य साहित्यिक न होकर आध्यात्मिक है, रूप और आकार का ध्यान नहीं दिया गया, गुण और शक्ति को आधार माना है। शिव के लिए 'मोहतमतरणि' (१०), 'मोहमूषक-मार्जार (११), 'अज्ञान-पाथोधि-घट सम्भव' (१२), आदि; या हनुमान के लिए 'जलधि-लंघन-सिंह' (२५), दिव्य-भूम्यंजना-मजुलाकर-मणे' (२६) आदि से मन के ऊपर कोई चित्र नहीं खिंचता प्रत्युत एक उत्साह आ जाता है—और इस प्रकार के रूपक 'पत्रिका' में अनेक है दृष्टान्तों की कमी नहीं, उत्प्रेक्षा भी अनेक स्थलों पर है। आगे चलकर ज्यों-ज्यों स्तुति के स्थान पर विनय आती गई है त्यों त्यों अलंकारो का सौन्दर्य कम होता गया है, अर्थ में गम्भीरता आती गई है; आत्म-निवेदन ने स्तवन को गौण बना दिया है।

यह सर्वमान्य है कि गोस्वामी जी की यह अंतिम रचना हिन्दी साहित्य मे एक नई उपलब्धि है, भक्ति की दृष्टि से तो गोस्वामी जी की रचनाओं में ही नहीं समूचे हिन्दी साहित्य में इसको प्रथम स्थान मिलना चाहिए। इसकी शैली और व्यवस्था नितान्त मौलिक है। कवि की प्रतिभा इसमें विशेष रूप से निखरी है। 'विनयपत्रिका' शुद्ध परमार्थिक काव्य है इसमें न विचार-विवेचन है, न कोई प्रचार; भगवान् राम के सामने भक्त तुलसी ने जो कुछ निश्छल निवेदन किया है वह वास्तविक तथा सत्य है उससे तुलसी के व्यक्तित्व का जितना परिचय मिलता है उतना दूसरे किसी प्रमाण से नहीं।

---

# १३ | तुलसी का दार्शनिक मत

## I

भारतीय दर्शन दो प्रकार का है—आस्तिक तथा नास्तिक; चार्वाक, बौद्ध तथा जैन दर्शन नास्तिक हैं, क्योंकि ये वेद को प्रमाण नहीं मानते, शेष छह दर्शन वेद को प्रमाणस्वरूप स्वीकार करने के कारण आस्तिक कहलाते हैं। 'आस्तिक' तथा 'नास्तिक' शब्द इस प्रसंग में अंग्रेजी के 'थीस्ट' तथा 'एथीस्ट' के पर्याय नहीं है। आस्तिक दर्शन छह प्रकार का है—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त। गोस्वामी तुलसीदास बहुश्रुत थे, उनको षड्दर्शन का अच्छा ज्ञान था, यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट है; फिर भी उन्होंने मुख्यतः वेदान्त को स्वीकार किया है, इस विषय में सभी विद्वान् एकमत हैं। परन्तु मत-भेद का विषय यह है कि वे वेदान्त के शांकर मत को स्वीकार करते थे या रामानुजीय मत को। पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी उनको अद्वैतवादी मानते हैं तो पं० रामचन्द्र शुक्ल विशिष्टाद्वैतवादी, और डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में गोस्वामी जी अद्वैतवाद को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे। अतः यह विचारणीय है कि तुलसी का झुकाव शंकर की ओर था या रामानुज की ओर।

तुलसी का सारा साहित्य भक्ति का समर्थक है और निर्गुण की अपेक्षा सगुण को अधिक व्यावहारिक समझता है। भक्ति के लिए उपास्य तथा उपासक का भेद अनिवार्य है; और उस प्रसंग में मोक्ष का अर्थ ब्रह्मभाव प्राप्त करना नहीं प्रत्युत सामीप्य, सान्निध्य आदि प्राप्त करना है। अतः इन परिस्थितियों के लिए शंकर की विचारधारा उतनी उपयुक्त नहीं जितनी कि रामानुज की। फिर भी तुलसी की विचारधारा पर ध्यान देकर उसके निष्कर्षों को ग्रहण करना अधिक उचित होगा।

## II

शंकर ने ब्रह्म को सत्य घोषित करके जगत् को मिथ्या बतलाया, और जब जिज्ञासु ने उनसे जीव के विषय में पूछा तो वे कुछ उपेक्षा भाव से बोले—

'जीवो ब्रह्मैव, नापरः' (जीव ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं)। रामानुज ने शंकर की पहली बात (ब्रह्म सत्यम्) मान ली, परन्तु दूसरी (जगन्मिथ्या) तथा तीसरी (जीवो ब्रह्मैव, नापरः) वे स्वीकार न कर सके। रामानुज चित् (जीव) तथा अचित् (जगत्) को भी सत्य समझते हैं; परन्तु चित् एवं अचित् इतने सत्य नहीं हैं कि ब्रह्म के बिना स्वतएव ये विद्यमान रह सकें; अतः विशिष्टाद्वैत मत में चिदचिद् विशिष्ट ईश्वर एकमेव सत्य है। शंकर ब्रह्म को सत्य मानते हैं, रामानुज चिदचिद् विशिष्ट ईश्वर को; यही दोनों का साम्य तथा वैषम्य है। शंकर ने माया (अविद्या या अज्ञान) को विशेष स्थान दिया; यही माया ब्रह्म तथा जीव में भेद का आभास देती है; यह एक भावात्मक वस्तु है—ज्ञान के अभाव मात्र का नाम अज्ञान नहीं है। शंकर की माया को उस समय के आचार्यों ने बौद्धों के 'शून्य' का ब्राह्मण रूप ही समझा था। रामानुज का भी सबसे बड़ा आक्षेप माया पर है; जब केवल ब्रह्म ही सत्य है तो माया कहाँ से आई, यदि ब्रह्म के समान माया भी सत्य है तो अद्वैत का अर्थ क्या है, और यदि माया ब्रह्म का नित्य गुण है तो ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष कहाँ रहा?

शंकर और रामानुज का मुख्य भेद इन तीन निष्कर्षों में दिखलाई पड़ता है। (१) शंकर ब्रह्म को निर्गुण मानते हैं, रामानुज सगुण। जो ज्ञानातीत होता हुआ भी ज्ञानमार्गेण प्राप्य है वह निर्विशेष नहीं हो सकता, क्योंकि निर्विशेष का अर्थ निर्गम्य है। उपनिषद् में ब्रह्म को जो निर्गुण कहा गया है उसका अर्थ केवल यह है कि ब्रह्म में असद्गुण कोई भी नहीं है, सद्गुणों का अस्तित्व तो ब्रह्म में मानना ही पड़ेगा। उपनिषद् के 'नेति नेति' का शंकर ने यह अर्थ किया था कि ब्रह्म गुणातीत या निर्गुण है; परन्तु रामानुज इसका अर्थ यह करते हैं कि ब्रह्म के विषय में इद इत्थ नहीं कहा जा सकता; वह ज्ञानातीत है, परन्तु गुणातीत नहीं, अन्यथा आगे उपनिषद् में यह क्यों कहा जाता कि ब्रह्म सत्य का भी सत्य है, गुण की प्रतिष्ठा तो हो ही गई—"तस्य उपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति। प्राणाः वै सत्यं, तेषामेव सत्यम्"। (२) शंकर ने जीव को भी ब्रह्म ही बतलाया, रामानुज ने उनका नित्य भेद स्वीकार किया, जीव और जगत् दोनों ही ब्रह्म के शरीर हैं—सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम् (श्रीभाष्य); ब्रह्म में मिलकर भी जीव ब्रह्म नहीं बन सकता, उनका यह नित्य भेद ही भक्ति का आधार है। इस मत-भेद से शंकर और रामानुज के व्यावहारिक दर्शन में अन्तर आ गया; शंकर ने ज्ञान को इतना महत्व दिया कि कर्म की अवहेलना हो गई—जीवन्मुक्त के लिये तो कर्म रह ही नहीं जाता; शंकर सशरीर ब्रह्मत्व प्राप्त करा सकते हैं, रामानुज शरीर त्याग पर भी अभिन्नता नहीं चाहते। (३) शंकर ने जगत् को मिथ्या माना है, रामानुज उनसे ज्यों के त्यों सहमत नहीं। रामानुज का 'असत्य' सापेक्षिक है, ईश्वर, चित् तथा अचित् तीनों सत्य हैं, परन्तु ईश्वर की अपेक्षा से चित् तथा अचित् असत्य हैं, तथा अचित्, चित् की अपेक्षा से भी असत्य है। सत्य की सापेक्षिकता उपनिषद् के 'सत्यस्य सत्यम्' वाक्य से स्पष्ट है। "एकमेवाद्वितीय

ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचत" के साथ-साथ "एको देव: सर्वभूतेषु गूढ:, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद् ब्रह्म" आदि वाक्य भी तो कहे गये हैं, जब ब्रह्म ही सब में व्याप्त है, सब उसी से उत्पन्न हैं और सबका विलय उसी में होता है तो जगत् को नितान्त मिथ्या नहीं कहा जा सकता—अपेक्षाकृत मिथ्या तो वह है ही।

शंकर और रामानुज एक दूसरे से नितांत भिन्न नहीं हैं दोनों अद्वैत को मानते हैं, दोनों का आधार एक ही है। केवलब्रह्म ही सत्य है, शेष सब उसीका रूप है—एक इस रूप को मिथ्या मानता है दूसरा इसको अपेक्षाकृत असत्य। रामानुज ने जीव को ब्रह्म से भिन्न माना है साथ ही जगत् से भी अलग बतलाया है; अज्ञान के कारण जीव अपने को संसार-बद्ध समझकर दु:ख भोगता रहता है, वह ब्रह्म तो नहीं हो सकता, परंतु जगत् से तो भिन्न है ही। जब तक जीव से अहंकार का निवारण नहीं होता, तब तक वह संसार या माया में फँसता रहेगा और अंशी की उपलब्धि द्वारा उसे आनन्द की प्राप्ति न होगी। शंकर जिस अहं की अनुभूति का प्रयत्न करते हैं, रामानुज उसी अहं को उखाड़ डालना चाहते हैं—क्योंकि दोनों के समक्ष 'अहं' के दो अलग-अलग रूप थे। शङ्कर ने जहां शुद्ध ज्ञानियों को मार्ग दिखाया वहां ज्ञानाहंकारियों को 'अहं ब्रह्मास्मि' की ढाल भी दे दी, जिससे वे ज्ञानमद में चूर रह कर अपने को कर्त्तव्याकर्त्तव्य से ऊपर समझने लगे। रामानुज का उपचार ज्ञानकर्मसमुच्चय है, वे कर्मवर्जित ज्ञान को कोई महत्व नहीं देते। अहंकार का भक्ति द्वारा दमन, तथा तर्क का भाव द्वारा निराकरण रामानुज की दो मुख्य विशेषताएँ हैं। नैयायिकों के तर्कवाद को अद्वैत मात्र ने अस्वीकार किया है; तर्क बुद्धि का विषय है तथा तार्किक की शिक्षा योग्यता आदि पर निर्भर है; अत: तर्क द्वारा सत्य का निर्णय नहीं हो सकता; ब्रह्मसूत्र (द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद) में इसीलिए तर्क को वह प्रतिष्ठा नहीं मिली। रामानुज ने इस बात पर विशेष बल दिया है। यदि केवल ज्ञान से मोक्ष मिल जाया करती तो वेदान्त के सभी अध्येता मुक्त हो जाते; प्रपत्ति द्वारा प्राप्त परा भक्ति ही सच्चा ज्ञान है, ध्रुव स्मृति, उपासना, ध्यान या निदिध्यासन इसके साधन हैं; सामान्या भक्ति परा भक्ति का साधन है, परंतु परा भक्ति की प्राप्ति भगवत्प्रसाद पर निर्भर है।

## III

तुलसी के दार्शनिक मत का अध्ययन करते हुए यह स्मरण रखना चाहिये कि तुलसी असाधारण पण्डित होने हुए भी मुख्यत: भगवद्भक्त थे; उनकी विचार-धारा में प्रत्येक शास्त्रोक्त मत के प्रति श्रद्धा है, तथा उन्होंने उस विविधता में एकता का ही दर्शन किया है। तुलसी से पूर्व निर्गुण भक्ति का बोलबाला था, जिसमें वेद-पुराणों की निन्दा, कर्म का खण्डन, तथा आचार की अवहेलना प्रसंगत: आ जाती थी—

साखी, सबदी, दोहरा, कहि कहिनी उपखान ।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निन्दहि वेद पुरान ॥

कबीर ने राम को तो ब्रह्म माना, परन्तु राम के अवतार को नहीं, वे मूर्ति, अवतार, शास्त्र आदि सबको माया के ही रूप समझते थे, और मानो शंकर का विकृत अनुकरण करके 'नेति नेति' (भरम है भाना) की ही रट लगाते थे। तुलसी ने इस नेति के स्थान पर अमित तथा अनन्त का उद्‌घोष किया—

राम अनन्त, अनन्त गुन अमित कथा विस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहि, जिनके विमल विचार॥

ब्रह्म के विषय में इयत्ता का प्रश्न नहीं आता, वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है। उसकी लीला विचित्र है। जब ब्रह्म अवतार लेता है तो अवतार मिथ्या कैसे हुआ, जो अवतार सदर्थ है उसकी अवहेलना भी कैसे ही सकती है—

विप्र, धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु, माया गुन गो पार॥

अस्तु, गोस्वामी जी न तो तर्क द्वारा और न भावना द्वारा ही किसी शास्त्र-सम्मत मत के विरोधी हैं; परन्तु उनका पक्षपात व्यावहारिकता पर है— जो जितना अधिक व्यवहारोपयोगी उतना ही अधिक ग्राह्य। छह तो दर्शन हैं, पुराणों के भी अपने-अपने मत हैं, शास्त्र नेति-नेति कहते हैं; सोचने पर ऐसा लगता है मानो ऋषियों के मत भी परस्पर में विरोधी हैं—

(क) छः मत विमत, न पुरान एक मत, नेति नेति नित निगम करत।
(ख) ज्ञान, भगति, साधन अनेक सब सत्य झूँठ कछु नाहीं।
(ग) तुलसिदास व्रत, दान, ज्ञान, तप सुद्धिहेतु स्रु ति गावै।
रामचरन-अनुराग-नीर बिनु मल अति नास न पावै॥
(घ) वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत नहिं होई।
(ङ) नाहिन आवत आन भरोसो।
यहि कलि-काल सकल साधन-तरु है स्रम-फलनि फरो-सो॥
बिरगत मन संन्यास लेत, जल नावत आम घरो-सो।
बहुमत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो-सो।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लगत राज-डगरो-सो॥

इस कलियुग में केवल रामनाम[1] का ही आधार है; कलियुग में सात्विक संन्यास तो कहीं है नहीं, सर्वत्र तामसिक सन्यास[2] ही है; जो लोग अपने को ब्रह्म कहते हैं वे भी अहंकार[3] में डूबकर ही, किसी सात्विक उपलब्धि के कारण नहीं।

---

१. कलियुग केवल नाम अधारा। जानि लेइ जो जाननिहारा॥
२. नारि मुई घर संपत्ति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥
३. जे मुनि ते पुनि आपुहि आपको ईस कहावत सिद्ध सयाने॥

अतएव रामनाम का जप मोक्ष के सभी[1] मार्गों में अच्छा है—

> नाना पथ निरबान के, नाना विधान बहु भाँति।
> तुलसी तू मेरे कहे, जपु राम नाम दिन राति॥

वेदशास्त्र में ज्ञान को मोक्षप्रद[2] माना गया है, परन्तु ज्ञान का मार्ग कृपाण की धारा[3] के समान है जिस पर चलने में सदा फिसलने की आशंका रहती है, और ज्ञानी प्रायः गाल ही बजाते रहते हैं[4]। अतः महावाक्यों[5] के अर्थज्ञान में निपुण व्यक्ति भी अपने उद्धार में समर्थ नहीं होता रामानुज भी कर्मरहित ज्ञान को असमर्थ ही समझते थे। निर्गुण और सगुण[6] दोनों ही मार्ग ठीक हैं, परन्तु प्रेम का[7] मार्ग सबसे बढ़कर है। तुलसी ने रामानुज से भी एक कदम आगे रखा और ज्ञानकर्मसमुच्चय के स्थान पर ज्ञानकर्मभावसमुच्चय को भवत्रासहर औषधि घोषित किया; इस समुच्चय में इनका मार्ग न तो ज्ञानियों के दम्भ से दूषित हो सका और न प्रेममार्गियों के समान लोकबाह्य ही बना रहा। कितने सहज भाव से वे अपने मत का प्रतिपादन करते हैं :—

> (क) भरोसो जाहि दूसरो, सो करो।
> मोकों तो राम को नाम कलपतरु कलि कल्यान फरो।
> करम उपासन ग्यान वेदमत सो सब भाँति खरो।
> मोहि तो सावन के अंधहि ज्यों सूझत रंग हरो॥

> (ख) राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
> नाहि तो भव बेगारि महँ परिहौ, छूटत अति कठिनाई रे।
> मारग अगम, संग नहिं संबल, नांव गांव कर भूला रे।
> तुलसीदास भव-त्रास हरहु अब, होहु राम अनुकूला रे॥

IV

ऊपर कहा जा चुका है कि शंकर के 'ब्रह्म सत्यम्' को रामानुज ने भी स्वीकार कर लिया,परन्तु 'जगन्मिथ्या' तथा 'जीवो ब्रह्मैव, नापरः' में उनका मतभेद है। अतः तुलसी के ब्रह्मविषयक विचारों के अवगाहन का उतना प्रश्न नहीं

---

१. ताहि तें आयो सरन सबेरे।
ज्ञान, विराग, भगति साधन कछु सपनेहु नाथ न मेरे।
२. ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना।
३. ज्ञान के पंथ कृपाण की धारा।
४. पंडित सोइ जो गाल बजावा।
५. 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' 'सोऽहम्' वेदान्त के ये वाक्य।
६. हिय निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
७. ...जोग-जग्य-बरजित केवल प्रेम न चहते।
... बिहाय, ब्रज घोष गेह बसि रहते॥

माता, उनका ईश्वर मायास्वामी है तथा 'ज्ञान-गिरा-गोतीता' है; वह निर्गुण होकर भी सगुण है; उसकी कोई इयत्ता नहीं, वह अनन्त एवं अमित गुण युक्त है। अब तुलसी के जीव-विषयक विचार देखिए। वे ईश्वर तथा जीव में नित्य भेद मानते हैं, और उस परम सत्ता के लिए उन्होंने 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग कम किया है, 'ईश्वर' शब्द का अधिक। रामानुज (लक्ष्मण) ने एक बार (मानस, तृतीय सोपान) स्वयं भगवान् से कुछ दार्शनिक प्रश्न किए जिनमें से मुख्य था—'ईश्वर जीव भेद प्रभु, सकल कहहु समुझाइ'। तब भगवान् ने शंकर की शब्दावली में 'जीवो ब्रह्मैव, नापरः' नहीं कह दिया, प्रत्युत वे इस प्रकार व्याख्या करने लगे—

माया ईस न आप कहुँ जान, कहिअ सो जीव।

भगवान् से बढ़कर और कोई प्रमाण नहीं हो सकता और वे स्वयं ईश्वर-जीव में भेद मानते हैं तो उनके उपासक तुलसीदास का मत भिन्न किस प्रकार हो सकता है। तुलसी तो जीव और ईश को एक कहना नारकीय पाप समझते हैं—

परहिं कलप भरि नरक महुँ, जीव कि ईस समान।

यद्यपि उन्होंने 'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई' भी कहा है, परन्तु उसे ठीक उसी प्रकार उपचारमात्र समझना चाहिए जिस प्रकार कि 'राम तें अधिक रामकरदास।' को। क्योंकि अनेक स्थलों पर इस ईश-जीव-भेद की चर्चा है—

(क) मायावसी जीव अभिमानी। ईशवस्य माया गुनखानी॥
पर-बस जीव, स्वबस भगवंता। जीव अनेक, एक श्रीकन्ता॥

(ख) जिय जब तें हरि तें बिलगान्यौ। तब तें देह गेह निज जान्यौ॥
मायाबस सरूप बिसरायौ। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायौ॥

(ग) ईस्वर-अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो माया बस भयउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥

(घ) नाचत ही निसि दिवस मरयौ।
तब ही तें न भयो, हरि, थिर जब तें जिव नाम धरयौ॥

(ङ) सीतल मधुर पीयूष सहज सुख निकटहिं रहत दूर जनु खोयो।
बहु भाँतिन स्रम करत मोहबस बृथहिं मंदति बारि बिलोयो॥

इन उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि ईश्वर (ब्रह्म; हरि) तथा जीव में इतना भेद नहीं है कि वे नित्य पृथक् हों, वस्तुतः जीव ब्रह्म में ही था परन्तु जब से वह अलग हो गया तब से उसपर माया (अज्ञान) का शासन चलने लगा और उसने अपनी विद्यमानता ब्रह्म में न समझकर माया (=देह) में समझी; अब वह सहज सुख को भूलकर व्यर्थ ही भटकता फिरता है; यही जीव की मोह-निद्रा की अवस्था है, जब जगेगा तो विवेक के कारण भ्रम का निवारण हो जायगा और विषयानुरक्ति के स्थान पर भगवान् के चरणों में अनुराग उत्पन्न होगा।—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥

यदि यह अज्ञान न होता तो ईश्वर और जीव में यह अन्तर[1] न माना जाता। तुलसी ने जीव को इसी अर्थ में 'ईश्वर अंश' कहा है, उनका अभिप्राय 'ईश्वर-अंग' से है। ध्यान रखना होगा कि ईश्वर से अलग होते ही जीव निराश्रय हो जाता है, अतः उसको अविद्या या विद्या के प्रभाव में आना पड़ता है; यदि वह अविद्या के प्रभाव में आ गया तो वह विषयानुरक्त हो जाता है[2], क्योंकि 'सुत वित लोक ईषना तीनी' ही 'माया कर परिवारा' है; और यदि वह विद्या के प्रभाव में आ गया तो उसके मन में 'भेद भगति' बढ़ती है—

हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या॥
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै विहंग-वर॥

जीव और ब्रह्म के भेद के लिये मानस का दूसरा स्थल देखिये, जहाँ 'अभेदवादी ज्ञानी' पुरुषों के कलियुगी चरितों का उपहास है। कागभुशुंडि ने लोमश ऋषि से 'सगुन ब्रह्म अवराधन' के विषय में पूछा, परन्तु 'ब्रह्मज्ञानरत मुनि विज्ञानी' उनको निर्गुण मत का उपदेश देने लगे। जब कागभुशुंडि ने सगुणोपदेश की फिर प्रार्थना की तो ऋषि को क्रोध आ गया। तब कागभुशुंडि सोचने लगे कि जो अद्वैतवादी है उसको क्रोध नहीं आना चाहिये[1] क्योंकि द्वैत बुद्धि के बिना क्रोध नहीं आ सकता, और द्वैत बुद्धि अज्ञान के बिना नहीं होती, अस्तु जिसको क्रोध आ सकता है उसमें अद्वैत की बुद्धि कहाँ रही; उसमें अद्वैत का अहंकार है :—

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिन, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान॥

तुलसी ने अद्वैतवादियों के 'ज्ञान' (अहंकार) को ही 'अज्ञान' सिद्ध करके यह दिखा दिया कि वस्तुतः वे द्वैत (अन्-अद्वैत) वादी हैं। इस अद्वैतवादी निर्गुणोपासना का मोह उसी समय तक रहता है जब तक कि सगुण मूर्ति आँखों में न बसे। कागभुशुण्डि ने कितने व्यंग्य से कहा था—एक बार भगवान् के सगुण रूप का अपने नेत्रों से आतृप्ति दर्शन करलूँ, फिर (यदि आवश्यकता हुई तो) आपके निर्गुण उपदेश को भी सुन लूँगा :—

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुण उपदेसा।

V

शंकर ने जगत को मिथ्या बतलाया था, परन्तु रामानुज ने उसको अपेक्षाकृत असत् माना है। तुलसी ने भिन्न-भिन्न स्थलों पर संसार को असत्य

---

१. जो सबके रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस॥

२. अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटै राम करहु जो दाया॥
विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पाँवर पसु कपि अतिकामी॥
नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निस जो जागा॥
लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
प्रभुमय देखहि जगत, केहि सन करहि विरोध॥

माया, तथा मृषा अथवा 'कछु नाहिन' कहा है। उस युग में 'माया' और 'मोह' शब्द बड़े लोकप्रिय थे, सभी लोग संसार की सत्ता को स्वप्नवत् भानु-कर-वारि एवं रजत सीप महुँ भास जिमि' कहा करते थे, तुलसी में भी ऐसे प्रयोग हैं—

(क) मैं अब तोहि जान्यो संसार।
बाँधि न सकहिं मोहि हरि के बल प्रकट कपट आगार॥

(ख) देखते ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किये विचार।

(ग) उमा कहहुँ मैं अनुभव अपना।
सत हरि भजन जगत सब सपना।

(घ) रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानुकर-वारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥

परन्तु साथ ही तुलसी जगत् को 'सियाराममय' भी मानते हैं, सीता को उन्होंने राम की माया या प्रकृति बतलाया है और अनेक स्थलों पर राम को ब्रह्म कहा है—

(क) श्रुतिहेतु पालक राम तुम्ह जगदीस, माया जानकी।

(ख) आगे राम, लखनु बने पाछे। तापस वेष विराजत काछे॥
उभय बीच सिय सोहति कैसे। ब्रह्म जीव बिच माया जैसे॥

वस्तुतः 'माया' शब्द का प्रयोग तुलसी ने दो अर्थों में किया है—तात्त्विक तथा व्यावहारिक। तात्त्विक अर्थ में माया प्रकृति है, पुरुष या ब्रह्म उसका स्वामी है उसका अवतार सीता हैं। व्यावहारिक अर्थ में 'माया' विषय के आकर्षण को कहते हैं, जो संसार की स्थिति का एकमात्र कारण है, और जिसका सर्वप्रधान रूप नारी है, इसी अर्थ में 'मोह' शब्द का प्रयोग है। जब तक इस माया-मोह से छुटकारा नहीं मिलता तब तक भगवच्चरणों में निश्छल अनुराग नहीं हो सकता—जागरण सभव नहीं है—

(क) बिनु सतसंग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग॥

(ख) यौं मन कबहूँ तुमहिं न लाग्यौ।
ज्यों छल छाँड़ि स्वभाव निरन्तर रहत विषय अनुराग्यौ॥

(ग) जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव,
जागु, त्यागु मूढ़ता, नुरागु श्रीहरे॥

जगत् के विषय में तुलसी के विचार उलझे हुए से लगते हैं, परन्तु वस्तुत; ऐसा है नहीं; क्योंकि उसका 'असत्' सापेक्षिक है; जगत् असत् है परन्तु सत् भी है क्योंकि यह ईश्वर का विशेषक है—इसका विलय ईश्वर में ही होता है; अचित् चित् की अपेक्षा असत् है परन्तु ईश्वर का अंश भी है। जहाँ तक जीव और जगत् का सम्बन्ध है, जीव को सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि जगत् उसका गम्य नहीं उसका लक्ष्य तो ईश्वर है। एक वाक्य में तुलसी ने जगत् को 'हरि-आश्रित' तथा 'असत्य' दोनों ही कह दिया है—कदाचित् यही बतलाने

के लिए कि जगत् इसीलिए असत् है कि यह निराश्रित नहीं रह सकता :

एहि विधि जग हरि आश्रित रहई । जदपि असत्य, देत दुख अहई ॥

VI

माया के विषय में विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है; जीव को अभिभूत करने वाली, संसार में व्याप्त, भगवान् की दासी, (जिसने बुद्धि में अज्ञान तथा मन में मोह जगता है) माया का गोस्वामी जी ने निम्नलिखित रूप बतलाया है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया । जेहि बस कीन्हे जीव निकाया ॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा । जा बस जीव परा भव-कूपा ॥
एक रचै जग, गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताके ॥

विद्या और अविद्या का विषय बड़ा जटिल है । ईशावास्योपनिषद् में 'अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया' (१०) के अनन्तर 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' (१०) कहा गया है । 'अविद्या' की व्याख्या शंकर ने "विद्याया अन्या अविद्या, तां कर्म इत्यर्थः, कर्मणो विद्याविरोधित्वात्, ताम् अविद्याम् अग्निहोत्रादिलक्षणाम्' आदि शब्दावली से की है । कठोपनिषद् (अध्याय १, वल्ली २) में 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमानाः', तथा मुण्डकोपनिषद् (प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड) में 'अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः' द्वारा 'अविद्या' को 'अज्ञान' का पर्याय माना गया है; और 'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह्स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो(थर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं···। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते '(प्रथम मुण्डक प्रथम खण्ड), वेद-वेदांग का नाम 'अपरा' माना है और ब्रह्मविद्या को 'परा' विद्या कहा है । तुलसी का ब्रह्मविद्या से यहाँ कोई भी संकेत नहीं, वे कर्म और उपासना को भी अविद्या और विद्या नही कहते । उपनिषद् में अविद्या का अर्थ ज्ञान है, यह विद्या यदि ब्रह्मविषयक ज्ञान है तो परा अन्यथा अपरा कहलायेगी । तुलसी ने अज्ञान को अविद्या और ब्रह्मविषयक ज्ञान को विद्या' (माया या प्रकृति का ज्ञान) कहा है । ऊपर के उद्धरण का यही अर्थ होगा कि जीव को दो प्रकार का ज्ञान हो सकता है; एक ज्ञान यह कि संसार का बड़ा आकर्षण है इसकी उपासना करनी चाहिए—यह ज्ञान अज्ञान अविद्या है यह अहंकारजन्य है; दूसरा यह ज्ञान कि ब्रह्म ही सत् है माया तो उसकी दासी है—माया के इस रूप का ज्ञान 'विद्या' या ब्रह्मज्ञान है :—

१. हरि-सेवकहि न व्याप अविद्या । प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या ।

तजि माया, सेइअ परलोका । मिटहिं सकल भव-संभव सोका ॥

देह धरे कर यह फलु भाई । भजिअ राम, सब काम बिहाई ॥

तुलसी की यह अविद्या ही शंकर का अज्ञान है—कम से कम व्यावहारिक अर्थ में। शंकर ने अद्वैत की प्रतिष्ठा की थी, तुलसी भी माया का व्यावहारिक रूप द्वैत ही समझते हैं; परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। शंकर का अद्वैत एकमेवाद्वितीयम् का पर्यायवाची है, तुलसी का अद्वैत 'आत्मवत् सर्वभूतानि' अर्थात् निज-परबुद्धि का अभाव है —

(क) गई न निज-पर बुद्धि, सुद्ध ह्वै रहे न राम लय लाए।

(ख) सत्रु, मित्र, मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरियाई ॥

(ग) तुलसिदास मैं मोर गये बिनु जिय सुख कबहु न पावै।

(घ) द्वैतमूल, भय सूल सोकफल भवतरु टरै न टार्यो ॥
रामभजन-तीछन-कुठार लै सो नहिं काटि निवार्यो ॥

(घ) सत्रु मित्र, सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं।

यदि यह मैं-तू या मेरा-तेरा का भाव न होता तो संसार (दुःख) भी न होता, इससे छुटकारा ही मोक्ष है।

शंकर यह कहते थे कि अज्ञान के दूर हो जाने पर जीव अपने स्वरूप को पहिचान लेता है और 'सोऽहम्' की भावना में मग्न रहता है, तुलसी का भी मत है कि अज्ञानान्धकार के नष्ट होने पर जीव अपने स्वरूप का अनुभव करता है; परन्तु अपने स्वरूप का अनुभव है अपने प्रभु को पहचान लेना और अपने को दास समझ लेना। हनुमान के शब्दों में—

मोर न्याउ मैं पूछौं साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं ॥

तव मायावस फिरौं भुलाना। तातें मैं नहिं प्रभु पहिचाना ॥

एक मन्द मैं मोहवस, कुटिल हृदय अज्ञान।

पुनि, प्रभु मोहि बिसारेउ, दीन बंधु भगवान ॥

यहाँ 'माया', 'अज्ञान' तथा 'मोह' शब्दों की संक्षिप्त व्याख्या भगवान् के अनन्य भक्त हनुमान ने स्वयं भगवान् के समक्ष की है, जिससे विदित होता है कि तुलसी के मत में भगवान् के सन्दर्भ से जिसको 'माया' कहते हैं जीव के सन्दर्भ में वही 'अज्ञान' या मोह है—अज्ञान बुद्धि के लिए और मोह हृदय के लिए। इसका निवारण होते ही जीव अपने प्रभु ईश्वर को पहिचान लेता है। यहाँ तुलसीदास रामानुज से सहमत हैं।

## VII

यद्यपि रामचरित-मानस के मंगलाचरण में गोस्वामी जी ने शंकर की शब्दावली 'यत् सत्वाद् अमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' का प्रयोग किया है, परन्तु साथ ही "यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवा सुरा' आदि कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि तुलसी की माया शंकर की माया नहीं है क्योंकि शंकर की माया स्वयम् संसार है परन्तु तुलसी की माया संसार को

# १४ | कविप्रिया

आचार्य केशवदास के कविशिक्षा-सम्बन्धी तीन ग्रन्थ मिलते हैं : 'रसिक-प्रिया' (रचनाकाल सं० १६४८), 'रामचन्द्रिका' (सं० १६५८) तथा 'कवि-प्रिया' (सं० १६५८)। जिनमें से 'रामचन्द्रिका' में 'परब्रह्म श्रीराम' के यश का अनेक प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध छन्दों में वर्णन करके केशव ने अपनी अपूर्व सामर्थ्य का परिचय दिया है तथा शिष्यों के लिए आदर्श उपस्थित किया है; लक्षण देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी। शेष दो पुस्तकों में वर्ण्य विषय के लक्षण भी हैं तथा उदाहरण भी। 'रसिकप्रिया' उनकी प्रथम रचना है, उसमें विवेचन की अपेक्षा उमंग अधिक है और 'रामचन्द्रिका' में छन्द के साथ-साथ कथा[1] रचयिता का मुख्य उद्देश्य बन गई थी; परन्तु 'चन्द्रिका' से ठीक चार मास उपरान्त[2] लिखी गई 'कविप्रिया' में केशव एक प्रौढ़ आचार्य बने हुए हैं—उन्होंने विवेचन के अतिरिक्त सिद्धान्त-प्रतिपादन भी किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'कवि-प्रिया' आचार्य केशव की सबसे प्रौढ़ तथा सबसे महत्त्वपूर्ण कृति है।

यदि केशव अपनी पुस्तक में यह स्पष्ट न करते कि 'प्रिया' की रचना उन्होंने किसके लिए और क्यों की, तो हम यह संभावना कर सकते थे कि उस अभिमानी पंडित ने संस्कृत में पंडितराज जगन्नाथ तथा हिन्दी में परवर्ती कवि-राजा मुरारिदान के समान, पुराने मतों का खंडन करके काव्यशास्त्र-सम्बन्धी कुछ नवीन मतों का प्रतिपादन किया होगा। परन्तु इस संभावना की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि केशव ने पहले 'प्रभाव' में ही यह लिख दिया है कि रमा, शारदा

---

१. रामचन्द्र की चन्द्रिका, वरणत हौं बहु छन्द। (रा० च०)

२. सोरह सै अट्ठावनै कातिक सुदि बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका, तब लीन्हों अवतार॥ (रा० चं०)
प्रगट पंचमी को भयो, कविप्रिया अवतार।
सोरह सै अट्ठावनो, फागुन सुदि बुधवार॥१।४। (कविप्रिया)

तथा शिवा के समान गुणवती प्रवीणराय नाम की एक पातुर के लिए[1] (उसकी शिक्षा के लिए) ही इस पुस्तक की रचना हुई है। प्रवीणराय तो व्याज-मात्र है, वह स्वयं[2] तो कविता कर लेती थी केशव ने यह देखा कि काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ अनेक हैं, उनके मत भी विभिन्न हैं सुकुमार बुद्धिवाले बालक-बालिकाओं[3] के लिए यह संभव नहीं कि संस्कृत के उन ग्रन्थों को पढ़ें और फिर कविता का अभ्यास करें—इसी परिस्थिति पर विचार करके आचार्य ने 'कविप्रिया' की रचना की। इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि —

(क) इस पुस्तक की रचना केशव ने किसी नवीन सम्प्रदाय के प्रचलन को ध्यान में रखकर नहीं की।

(ख) कवियों तथा आचार्यों के उपयोग के लिए भी नहीं—उनसे तो इस रचना के लिए क्षमा माँगी है।[4]

(ग) यह कृति अनेक पुस्तकों का सार[5] है,

(घ) उदीयमान कवि इसको आसानी से समझकर (कंठ कर)[6] अपने कर्म में सफल हो सकेंगे—ऐसी लेखक को आशा है।

हिन्दी में जितनी पुस्तकें काव्यशास्त्र-सम्बन्धी मिलती हैं उन सबमें विचित्र इस पुस्तक का नाम है, जिससे लेखक या आश्रयदाता का कोई संकेत नहीं मिलता, प्रत्युत उसके सम्भाव्य महत्त्व की आशा झलकती है—षोडश शृंगारों के समान[7] सोलह 'प्रभावों' वाली यह रचना रमणी कवियों की प्रिया[8] बनकर उनके गले से (कंठमाल ज्यों[9]) सदा लगी रहेगी। यह नाम भी केशवदास के पांडित्य का द्योतक है। आचार्य वामन ने काव्यशास्त्र-सम्बन्धी सूत्रों की रचना कर उसकी एक वृत्ति भी स्वयं तैयार की और उसका नाम 'कविप्रिया'[10] रखा। केशव ने इसको अवश्य पढ़ा होगा और अपनी रचना के लिए यह नाम ही उनको अधिक पसन्द आया होगा—भामह, दण्डी तथा वामन, रुद्रट से केशव बड़े प्रभावित थे, यह उनकी सांप्रदायिक मान्यताओं से स्पष्ट है; क्या आश्चर्य है कि कविप्रिया' लिखने से दस वर्ष पहले ही उन्होंने अपनी कवि-शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तक का

१. ताके काज कविप्रिया, कीन्हीं केशवदास।१।६१।
२. तिनमें करति कवित्त इक, राय प्रवीन प्रवीन।१।५६।
३. समझैं बाला बालकहु, वर्णन पंथ अगाध। ३। १।
४. छमियो कवि अपराध।३।१।
५. सुनि-सुनि विविध विचार।३।२।
६. कंठ करो कविराज।३।३।
७. कविप्रिया के जानिये, ये सोरह शृंगार।१६।८७।
८. कविप्रिया है कविप्रिया।१६।८८।
९. कंठमाल ज्यों कविप्रिया।३।३।
१०. प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालङ्कारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते॥

नाम सोच लिया हो और उसी नाम के अनुकरण पर रसिकों के लिए लिखी गई पुस्तक का नाम 'रसिकप्रिया'[१] रख दियो हो ?

'कविप्रिया' में सोलह 'प्रभाव' है। प्रथम में वदना, प्रणयन-काल, राजवंश-वर्णन तथा प्रणयन-हेतु का कथन है; दूसरे में कवि वश-वर्णन है। तीसरे से सोलहवें प्रभाव तक मुख्य वर्ण्य वस्तु को स्थान मिला है। आचार्य ने काव्य का लक्षण नहीं दिया, प्रत्युत यह बतलाया है कि कवि सोच-सोचकर अपनी कृति को सुन्दर[२] बनाने में लगा रहता है, तनिक-सा भी दोष काव्य को निन्दनीय बना देता है, इसलिए सौंदर्य-साधन की अपेक्षा दोषनिवारण में अधिक सचेत रहना चाहिये।[३] जिस प्रकार मदिरा की एक बूँद से ही[४] गंगाजल का भरा हुआ घडा अपवित्र हो जाता है। उसी प्रकार तनिक दोष से भी सारा काव्य अग्राह्य बन जाता है। केशव के इस कथन में सौन्दर्य पर बल कम है प्रतिष्ठा पर अधिक, भामह में भी ऐसा ही सकेत है— एक भी सदोष पद का प्रयोग न करे क्योंकि सदोषकाव्य से उसी प्रकार निन्दा होती है[५] जिस प्रकार कि कुपुत्र से। परन्तु दण्डी का आग्रह सौन्दर्य पर आश्रित है—सुन्दर शरीर में यदि एक भी सफेद चिह्न[६] कोढ़ हो तो वह सारे शरीर को अरुचिकर बना देता है, इसी प्रकार काव्य तनिक-से भी दोष से अग्राह्य बन जाता है; रुद्रट के 'काव्यालंकार' पर नमिसाधु[७] ने अपनी टिप्पणी में भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। काव्य के वर्णन में दोष पर इतना बल देना केशव की अपनी सूझ नहीं है; भामह, दण्डी तथा रुद्रट के विचार तो स्पष्ट हो ही चुके हैं, नव्य आचार्यों ने भी काव्य का लक्षण बतलाने के लिए दोषहीनता पर सबसे पहले ध्यान दिया है—आचार्य मम्मट के[८] मत में दोषरहित और गुणसहित कहीं-कहीं अलकृत शब्दार्थ को काव्य कहना चाहिये, और उनके कटु आलोचक आचार्य जयदेव[९] के मत में निर्दोषा, लक्षणवती, रीतियुक्त, गुण

---

१. डा० दे अनुसार इन्द्रजीत नामक सस्कृत-कवि ने 'रसिकप्रिया' नाम की पुस्तक सस्कृत में लिखी है, (दे० सस्कृत पोईटिक्स, पृ० २८६)।

२. सुवरण को सोधत फिरत।३।४।

३. प्रभु न कृतघ्नी सेइये, दूषण सहित कवित्त।३।६।

४. बुंदक हाला परत ज्यों, गगाघट अपवित्र।३।५।

५. सर्वथा पदमप्येक न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते।१।११। (भामह : काव्यालकार)

६. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।१।७। (दण्डी : काव्यादर्श)।

७. सकलालंकारयुक्तमपि हि काव्यमेकेनापि दोषेण दुष्येत्, अलकृतं वधूवदनं काणेनेव चक्षुषा। (रुद्रट : काव्यालंकार, नमिसाधु की १।१४ पर टीका)।

८. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।१।४। (काव्यप्रकाश)

९. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिवाक्काव्यनामभाक्।१।७। (चन्द्रालोक)

पुष्ट, अलंकार रमणी, अनेक सूक्तियों से युक्त वाणी काव्य कहलाती है। यहाँ तक कि रसवादी विश्वनाथ ने¹ जिसने शास्त्रों का खंडन करके रसात्मकता की प्रतिष्ठा की, परन्तु मुख्यतया ही रस के अपकर्षक दोषों पर उनका ध्यान रहा था।

दोषों की संख्या अपार है। केशव ने इनके तीन वर्ग बनाये हैं, जिनका क्रम उनके महत्त्व का सूचक है। प्रथम वर्ग में ५ दोष हैं, दूसरे में १३ तथा तीसरे वर्ग की चर्चा उन्होंने 'कविप्रिया' में न करके 'रसिकप्रिया'² में की है—ये सभी रस-दोष ही हैं। दोषों के प्रथम तथा द्वितीय वर्ग में अन्तर बड़ा सूक्ष्म है जो उदाहरणों से ही स्पष्ट हो पाता है, दूसरे वर्ग में प्रायः वे दोष हैं जिनकी चर्चा संस्कृत के सभी आचार्यों ने भी की है और जो कवि की अशक्ति के द्योतक हैं; परन्तु पहले वर्ग के ५ दोष सामान्यतः पाठक को मालूम नहीं पड़ेंगे, वे अशक्तिजन्य नहीं हैं, प्रत्युत सजगता की कमी दिखलाते हैं, कविता-वनिता के ये दोष ५ हैं—अंध, बधिर, पंगु, नग्न तथा मृतक³। ये सब दोष शरीर के हैं, उपचार की दृष्टि से इनके ३ वर्ग हो सकते हैं—(१) अंध, बधिर तथा पंगु—जिनका उपचार दुस्साध्य है, (२) नग्न जिसका उपचार सर्वसाध्य है। (३) मृतक—जिसका उपचार असाध्य है। मृतक का तो एक ही उपचार है—त्याग; इसलिए अर्थहीन मृतक काव्य तो बस नष्ट ही है। अंध, बधिर, तथा पंगु जीवित तो रहेगा परन्तु सदा अशुभ तथा अशोभिकर बनकर, उसका उपचार होता नहीं देखा गया। परन्तु नग्न का उपचार सर्वसाध्य है, इसलिए इसके प्रति अवहेलना अशोभा का भी हेतु है तथा निन्दा का भी—इसलिए आचार्य केशव ने अपने शिष्यों को यह सम्मति दी है कि काव्य में नग्न-दोष को सहन न करना चाहिए, इतना ही नहीं काव्य को वस्त्राभूषणों से सजा कर ही रखना चाहिए।

वस्त्राभूषण की यही सजावट कवि का मुख्य कर्म है, केशव ने इसको 'अलंकार' नाम दिया है। अलंकार-हीन कविता नग्न⁴ है; उच्च जाति शुभ सामुद्रिक लक्षण, सुन्दर रंग, प्रेमपूर्ण हृदय, तथा मधुर स्वभावयुक्त वनिता⁵ भी नग्न रहने पर मन को रुचिकर नहीं लगती, इसी प्रकार उत्तम जाति, लक्षण, वर्ण, रस तथा छन्द वाली परन्तु अलंकारहीन नग्न कविता पाठक के मन को भाती नहीं। दोष-वर्जन के साथ-ही-साथ अलंकार-प्रयोग की यह विशेषता संस्कृत के पुराने आचार्यों में भी आग्रह की द्योतक है। दण्डी⁶ के मत में अलंकार-सम्पन्न

---

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यं, दोषास्तस्यापकर्षकाः।१।१। (साहित्यदर्पण)
२. रसिकप्रिया तें जानु।३।६१।
३. अंध, बधिर अरु पंगु तजि, नग्न, मृतक मति शुद्ध।३।७।
४. नग्न जु भूषण हीन।३।८।
५. जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई, कविता वनिता मित्त॥५।१॥
६. काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति।१।१६। (काव्यादर्श)

काव्य चिरस्थायी बन जाता है, भामह[1] ने कहा है कि सुन्दर होने पर भी रमणी का मुख भूषण बिना मनोरम नहीं लगता, और अग्निपुराण[2] मे अलकार-रहित सरस्वती को विधवा के समान माना है। संस्कृत के इन आचार्यों ने अलकार को काव्य की आत्मा या प्राण नहीं बतलाया, प्रत्युत अलंकार कवि-हृदय के उल्लास का सूचक है और श्रोता को अपनी ओर आकृष्ट करता है; अधौतवदना सुन्दरी या विधवा युवती को देखकर किस सहृदय के मन को ठेस न पहुँचेगी और सुसज्जित रमणी के अवलोकन मात्र से किस पुरुष के मन मे बिजली-सी न दौड़ जाएगी। आचार्य केशव ने मृतक सो अर्थहीन[3] काव्य को माना है, अलंकारहीन को वे निर्जीव नहीं कहते—उदास भी नहीं—प्रत्युत नग्न के समान समझते हैं—वह अच्छा नहीं लगता ('न बिराजई')। वामन[4] ने कहा है कि काव्य मे जो कुछ सुन्दर है उसे अलकार कहते हैं और काव्य की प्रतिष्ठा अलकार पर निर्भर है। आचार्य जयदेव[5] ने, आगे चलकर, अलकार को काव्य का बहुत कुछ समझ लिया, और अलंकारहीन काव्य को उसी प्रकार निष्प्राण माना जिस प्रकार उष्णता के बिना अग्नि को। केशव इस मत मे अधिक विश्वास नहीं रखते, प्रत्युत पुराने आचार्यों से सहमत दिखलाई पड़ते हैं—एक बार तो ऊपरी शृंगार[6] उनको प्रकृत सुन्दर रूप का अपकर्षक[7] जान पड़ा था।

आचार्य रामचन्द्र[8] शुक्ल ने केशवदास को अलकारवादी आचार्य माना है, परम्परा भी इसी पक्ष में है। परन्तु ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिस अर्थ में जयदेव अलंकारवादी थे ठीक उसी अर्थ में केशव नहीं कहे जा सकते; केशव दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों के अनुयायी हैं जबकि शोभाकारक[9] धर्म-मात्र का नाम अलकार था। पीछे[10] शोभा के दो हेतु माने गये, एक शोभा का जनक या और दूसरा शोभा का वर्द्धक, प्रथम को 'गुण' नाम दिया गया और दूसरे को 'अलंकार', एक को स्थायी या नित्य धर्म माना गया दूसरे को अस्थायी या

१. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।१।१३। (काव्यालकार)
२. अलकाररहिता विधवेव सरस्वती।
३. मृतक कहावै अर्थ बिनु।३।८।
४. काव्यं ग्राह्यमलकरात्।
   सौंदर्यमलंकार:। (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति:)
५. अंगीकरोति य: काव्यं शब्दार्थावनलकृती।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥ १।८। (चन्द्रालोक)
६. काहे को सिंगारि कै बिगारति है मेरी आली,
   तेरे अंग बिना ही सिंगार के सिंगारे हैं। ६।१२।
७. तुलना कीजिए—अनलंकृतकांतं ते वदन वनश्रद्युति। ३।५१। (भामह)
८. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० २३६
९. काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते। २।१। (काव्यादर्श)
१०. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० १६५

कल के स्कॉलरों तथा पुराने पडितों का है—आजकल बहुत अधिक, पहले बहुत कम। दूसरा वर्ग-कवियों या प्राचीन अर्थ में साहित्यिकारों का था—साहित्य पढ़ने मात्र से कोई 'साहित्यिकार' न बन सकता था, साहित्य-सृष्टि से ही 'साहित्यिकार' का पद मिलता था। पुराने आचार्यों ने 'साहित्यिकारों' के लिए ही प्रायः काव्य-शास्त्र की रचना की है, इसलिए वहाँ कविशिक्षा को भी स्थान मिला है—वाग्भट्ट आदि ने प्रथम अध्याय में ही कवि-शिक्षा का प्रसग चलाया है और वह भी बड़े विस्तार से। उस सम्प्रदाय के अनुयायी केशव ने भी वैसा ही किया है। 'कविसमयख्यातादि'[1] को तो विश्वनाथ जैसे नव्य आचार्य भी न छोड़ सके।

'कविप्रिया' के उत्तरार्द्ध मे (नवम 'प्रभाव' से लेकर सोलहवें 'प्रभाव' तक) 'विशिष्ट' अलंकारों का विवेचन है। इसकी संख्या ३७ है—भेदो को अलग नहीं गिनाया गया, और इनके आठ वर्ग बना कर इनको आठ 'प्रभावो' में रखा है। इस बात का अभी तक कोई सकेत नहीं मिलता कि इन अलकारों का क्रम किसी नियम पर आश्रित है अथवा नहीं, और इस वर्गीकरण का आधार क्या कोई विशेष सिद्धांत है? प्रारंभ में अलंकारों की जो नामावली है उसी के क्रम का आगे निर्वाह किया गया है। लक्षण दोहों मे है और उदाहरण प्रायः कवित्त या सवैये मे, उदाहरणों के रूप में केशव ने अपने पुराने छंद भी रखे हैं और नये बनाकर भी। प्रायः एक भेद का एक ही उदाहरण दिया है। उदाहरणों में मौलिकता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। दण्डी से अधिकांश मे सहमत होते हुए भी केशव ने अलंकारों के प्रसंग में अलकार-दोषो की चर्चा नहीं की।

आठ प्रभावो में अलंकारों के नाम तथा संख्या इस प्रकार है—

नवम प्रभाव—स्वभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, विशेष, उत्प्रेक्षा—६

दशम प्रभाव—आक्षेप—१

एकादश प्रभाव—क्रम, गणना, आशिष, प्रेम, श्लेष, सूक्ष्म, लेश, निदर्शना, ऊर्ज, रसवत्, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, अपन्हुति—१३

द्वादश प्रभाव—उक्ति (वक्रोक्ति, अन्योक्ति, व्यधिकरणोक्ति, विशेषोक्ति, सहोक्ति), व्याजस्तुति, व्याज निन्दा, अमित, पर्यायोक्ति, युक्त—६

त्रयोदश प्रभाव—समाहित, सुसिद्ध, प्रसिद्ध, विपरीत, रूपक, दीपक, प्रहेलिका, परिवृत्त—८

चतुर्दश प्रभाव—उपमा—१

पंचदश प्रभाव—यमक—१

षोडश प्रभाव—चित्र—१

केशवदास हिन्दी के प्रथम प्रतिष्ठित आचार्य हैं, संस्कृत अलंकारशास्त्र तथा साहित्य का जितना ठोस ज्ञान उनको था उतना किसी दूसरे को नहीं, और

१. दे० साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद, श्लोक संख्या १८ के अनन्तर।

जिस अधिकार तथा प्रौढ़ता से उन्होंने विवेचन किया है उसको किसी दूसरे में पा सकना सम्भव नहीं है। यदि उनको 'कवि' कहें तो व्यापक अर्थ में ही, क्योंकि केशव में भावुकता की अपेक्षा पांडित्य अधिक है—जो आचार्य का प्रमुख गुण है। हिन्दी के पण्डितों ने केशव के आचार्यत्व को बड़ा आदर दिया है, उनकी कृतियों पर टीकाएँ लिखी हैं तथा उनके मत को सम्मान उद्धृत किया है।

'कविप्रिया' न किसी ग्रन्थ का अनुवाद है और न सुनी-सुनाई बातों का संग्रह मात्र। जिस युग में अलंकारशास्त्र का इतना चर्वित-चर्वण तथा मंथन-उल्लोडन हो रहा हो उस युग में किसी भी प्रतिभाशाली पण्डित के लिए यह संभव नहीं होता कि अपने समसामयिक या अपने से कुछ पूर्व के आचार्यों का समर्थन करके स्वयं तुच्छ बन जाए, इसीलिए हमारे अभिमानी आचार्य ने रसवादी अलंकारशास्त्रियों की हाँ-में-हाँ न मिलाकर पुराने आचार्यों का समर्थन किया है। फिर भी अंधानुसरण नहीं मिलता, कितने ही स्थलों पर वे दण्डी से सहमत न हो सके, कहीं वे मम्मट-विश्वनाथ की मान लेते हैं, कहीं उनका अपना अलग मत है। जहाँ केशव का मत किसी से नहीं मिलता वहाँ दोनों की संभावनाएँ हैं—(क) उनपर किसी ऐसे संस्कृत ग्रन्थ का प्रभाव हो जो अभी तक आलोचकों के देखने में नहीं आया (क्योंकि केशव की आलोचना करने से पूर्व अपने वर्णमात्र संस्कृत ज्ञान को न भूल जाना चाहिए); (ख) उन्होंने देशकालपात्र को दृष्टि में रख कर आवश्यक काँट-छाँट कर दी हो। कविप्रिया की परम्परा, उसके अधिकारी, तथा इस बात को कि यह हिन्दी का सर्वप्रथम प्रौढ़ अलंकार-ग्रन्थ है, ध्यान में रखकर यदि मूल्यांकन किया जाए तो आचार्य केशव की प्रतिष्ठा में सन्देह नहीं किया जा सकता।

'कविप्रिया' के विषय-निर्वाह में पूरी वैज्ञानिकता है, और विषयक्रम भी स्वाभाविक एवं पूर्वकविसम्मत है। लक्षण संस्कृत के समान ही कसे हुए तो नहीं हो सकते, परन्तु हिन्दी के दूसरे आचार्यों की तुलना में वे कम शिथिल हैं—वस्तुतः संस्कृत में लिखे लक्षणों के समान इनको भी वृत्ति की अपेक्षा है। उदाहरण मौलिक तो हैं ही उपयुक्त भी हैं, कहीं-कहीं संस्कृत का छायानुवाद है– केशव के उदाहरण कवित्त-सवैया जैसे बड़े छन्दों में हैं परन्तु संस्कृत के बहुत सारे उदाहरण अनुष्टुप जैसे छोटे छंदों में थे, फलतः केशव की एक या दो पंक्तियों में ही उनका भाव समा गया, इस दशा में केशव के शेष चरण कभी-कभी पाठक को भुलावे में डाल देते हैं, वह समस्त छन्द में उदाहरण खोजता है परन्तु वस्तुतः वैसा नहीं होता। उदाहरणों में वर्णन की प्रवृत्ति युग-प्रभाव की सूचक है।

विशिष्ट अलंकार में भी केशव की प्रतिभा अपूर्व है। 'स्वभावोक्ति' तथा 'युक्त' अलंकार का भेद बड़ा ध्यान देने योग्य है। गणना, अमित, युक्त, प्रसिद्ध तथा विपरीत अलंकार बिलकुल नये हैं। क्रम अलग है; और व्यधिकरणोक्ति एक नया नाम है। केशव के परिवृत्ति अलंकार का क्षेत्र बहुत व्यापक बन गया है, उनकी व्याजस्तुति भी दण्डी से व्यापक है; यमक, व्यतिरेक, दीपक आदि भेदों में

केशव की मौलिकता स्पष्ट है। श्लेष तथा उपमा के भेदों में केशव ने अनावश्यक का उपयुक्त त्याग किया है। अलंकारों के जो नाम बदले हैं वे भी पुराने नामों की अपेक्षा अधिक सार्थक जान पड़ते हैं। शब्दालंकारों की कोई चर्चा नहीं है; जिन अलंकारों का जितना अधिक महत्त्व है उतना ही उनका विवेचन अधिक है। चित्रालंकार के महासमुद्र में से हमारे आचार्य ने, समय की गति को पहचानकर, केवल कुछ ही कण लिए हैं और उसको सबसे अन्तिम 'प्रभाव' में स्थान दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि अलंकारों का क्रम सरलता से कठिनता की ओर बढ़ने का संकेत है।

केशव पर 'प्राच्यों' का ही अधिक प्रभाव है, नव्यों का नहीं। अलंकारों की संख्या, क्रम तथा वर्ग इसी तथ्य के प्रमाण हैं। अलंकारों की संख्या भामह में ४० है, जिनमें से ३ का निरसन तथा १ का तिरस्कार करके भामह ३६ अलंकारों का वर्णन करते हैं; 'आशी' के सहित संख्या ३७ होगी। दण्डी ने ३४ अर्थालंकार तथा यमक और चित्र, योग ३६ का वर्णन किया है; आवृत्तिदीपक को अलग मान लें तो संख्या ३७ हुई। उद्भट के अलंकार ४१ हैं; ३ अनुप्रास तथा १ पुनरुक्तवदाभास को अलग कर लीजिए, संख्या ३७ रही। वामन के अलंकार ३१ या ३३ माने जाते हैं। रुद्रट में अलंकारों की संख्या बढ़ने लगती है। यही ध्वनिपूर्वकाल है, जिसका केशव पर गंभीर प्रभाव है; केशव ने अनुप्रास आदि शब्दालंकारों को नहीं अपनाया, उनके वर्णित अलंकार संख्या में ३७ ही हैं।

अलंकारों के नाम तथा क्रम भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हैं और इससे भी पूर्व वर्गीकरण। जिस प्रकार उद्भट के वर्गीकरण को अवैज्ञानिक कहा जाता है उसी प्रकार केशव के वर्गीकरण को भी। वस्तुतः वर्गीकरण का सर्वदा विश्लेषणात्मक होना अनिवार्य नहीं, ऐतिहासिक तथा भौगोलिक भी तो हो सकता है। उद्भट का वर्गीकरण भौगोलिक था, केशव का ऐतिहासिक—उनके वर्गों पर ध्यान देने से *ध्वनिपूर्वकाल की कहानी आँखों के सामने घूमने लगती है।* भामह से रुद्रट तक ही क्यों, भोज तक आचार्यों के अपने-अपने वर्गीकरण हैं; किसी ने स्कूलों को ध्यान में रखकर, अलंकारों के वर्ग बनाये तो किसी ने उनको 'वास्तव' 'औपम्य', 'अतिशय' तथा 'श्लेष' के विशेष भेद कहा; कोई उनको उपमा के प्रपंच कहने लगा तो कोई उनको बाह्य, आभ्यन्तर आदि; कोई आचार्य भेदप्रधान, अभेदप्रधान, भेदाभेदप्रधान से भी सन्तुष्ट न रहकर एक दर्जन से अधिक अन्यवर्ग भी बना बैठा। प्रत्येक आचार्य में सचाई माननी ही पड़ेगी। केशव ने दण्डी के अनुकरण पर 'जमक' तथा 'चित्र' सबसे अन्त में रखे हैं, और उनके अलग-अलग 'प्रभाव' बना दिये हैं। उपमा को 'सर्वालंकारशिरोरत्न' भी माना गया है और 'उभयालंक्रिया' (सरस्वतीकण्ठाभरण, ४,१,) मानकर इसका अन्त में वर्णन भी है; केशव ने इसको यमक-चित्र से पूर्व 'प्रभाव' में स्थान दिया है।

नवम से त्रयोदश प्रभावों में ३४ अलंकार हैं। नवम का क्रम भोज के अनुसार है जाति या स्वाभावोक्ति, विभावना, हेतु, विरोध, 'विशेष' भी विरोध-

जिस अधिकार तथा प्रौढ़ता से उन्होंने विवेचन किया है उसको किसी दूसरे में पा सकना सम्भव नहीं है। यदि उनको 'कवि' कहें तो व्यापक अर्थ में ही, क्योंकि केशव में भावुकता की अपेक्षा पाण्डित्य अधिक है—जो आचार्य का प्रमुख गुण है। हिन्दी के पण्डितों ने केशव के आचार्यत्व को बड़ा आदर दिया है, उनकी कृतियों पर टीकाएँ लिखी हैं तथा उनके मत को ससम्मान उद्धृत किया है।

'कविप्रिया' न किसी ग्रन्थ का अनुवाद है और न सुनी-सुनाई बातों का संग्रह मात्र। जिस युग में अलंकारशास्त्र का इतना चर्वित-चर्वण तथा मंथन-उल्लोडन हो रहा हो उस युग में किसी भी प्रतिभाशाली पण्डित के लिए यह सम्भव नहीं होता कि अपने समसामयिक या अपने से कुछ पूर्व के आचार्यों का समर्थन करके स्वयं तुच्छ बन जाए, इसीलिए हमारे अभिमानी आचार्य ने रसवादी अलंकारशास्त्रियों की हाँ-में-हाँ न मिलाकर पुराने आचार्यों का समर्थन किया है। फिर भी अंधानुसरण नहीं मिलता, कितने ही स्थलों पर वे दण्डी से सहमत न हो सके, कहीं वे मम्मट-विश्वनाथ को मान लेते हैं, कहीं उनका अपना अलग मत है। जहाँ केशव का मत किसी से नहीं मिलता वहाँ दोनों की संभावनाएँ हैं—(क) उनपर किसी ऐसे संस्कृत ग्रन्थ का प्रभाव हो जो अभी तक आलोचकों के देखने में नहीं आया (क्योंकि केशव की आलोचना करने से पूर्व अपने कणमात्र संस्कृत ज्ञान को न भूल जाना चाहिए); (ख) उन्होंने देशकालपात्र को दृष्टि में रख कर आवश्यक काँट-छाँट कर दी हो। कविप्रिया की परम्परा, उसके अधिकारी, तथा इस बात को कि यह हिन्दी का सर्वप्रथम प्रौढ़ अलंकार-ग्रन्थ है, ध्यान में रखकर यदि मूल्यांकन किया जाए तो आचार्य केशव की प्रतिष्ठा में सन्देह नहीं किया जा सकता।

'कविप्रिया' के विषय-निर्वाह में पूरी वैज्ञानिकता है, और विषयक्रम भी स्वाभाविक एवं पूर्वकविसम्मत है। लक्षण संस्कृत के समान ही कसे हुए तो नहीं हो सकते, परन्तु हिन्दी के दूसरे आचार्यों की तुलना में वे कम शिथिल हैं—वस्तुतः संस्कृत में लिखे लक्षणों के समान इनको भी वृत्ति की अपेक्षा है। उदाहरण [illegible] केशव के

# १५ | बिहारी का काव्य-कौशल

शताब्दियों तक विपण्ण मन को उल्लसित करने वाली कृष्ण काव्य की रस-तरंगिणी मुगल-शासित मनो-भूमि में बहती हुई विलास-काननों को कुसमित करने लगी; हिन्दी के उद्यान में इसका सबसे सुरभित पादप बिहारी था। चौबे बिहारीलाल ने अपने जीवन में केवल एक मुक्तक काव्य लिखा है जिसमें ७०० से कुछ अधिक दोहे हैं, परन्तु उनका यश इतना विशद है कि शृंगार-काव्य में सर्वोपरि तथा समस्त हिन्दी साहित्य में प्रमुख कवियों के बीच उनका नाम लेना आवश्यक हो जाता है।

बिहारी के काव्य का मुख्य विषय शृंगार है, परन्तु विद्यापति के समान अश्लीलता में उनकी रुचि नहीं थी। विद्यापतिने संभोग शृंगार के प्रसंग में नग्न और मन के नग्न चित्र अंकित किये हैं, किन्तु बिहारी ने सुरति से पूर्व मन का उल्लास और सुरति के अनन्तर मन का सुख[1] अंकित करके संभोग के केवल संकेत भर दिए हैं—चित्र पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया है – विपरीत रति ने जब उनका ध्यान बारबार अपनी ओर आकृष्ट किया तब भी वे अपने पार्थिव नेत्रों से उसको देखने नहीं गये प्रत्युत किंकिणी के कोलाहल तथा मजीर के मौन से उसका अनुमान करके रस-विभोर हो गये[2]। इसका कारण यह है कि विद्यापति के शृंगार में वर्णन 'प्राकृत' है, परन्तु बिहारी में नागरता[3] है। सतसई के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि नागरियों के चित्रों में मनोभावों, हावों आदि का वर्णन है और गँवेलिनों[4] के चित्रों में स्थूल अंगों का। यहाँ तक कि खेत रखाने वालों के चित्र में ग्राम्यत्व आ गया है 'राखति खेत खरे खरे खरे-उरोजनु बाल' (२४८)।

---

१. सुरति सुखित सी देखियत।

(दोहों की संख्या बिहारी-रत्नाकर के अनुसार है)

२. करति कुलाहलु किंकनी गह्यो मौनु मंजीर। (१२६)

३. सबै हँसत करतार दै, नागरता के नांव। (२७६)

४. नागरि बिविध बिलास तजि, बसी गवेलिनु माँहि। (२०६)

विलासादि में 'कुसुम सेजोवरि[1]' पर रति-लास में बैठे हुए 'नागरि-नागर' का जो चित्र अंकित है उसमें 'प्रति-अंग चुम्बन, रस अनुमोदन' भी पाठक को दिखलाई पड़ रहा है, परन्तु बिहारी के श्याम, राधा-नागरी के 'तन की झाँई' से 'हरित-दुति'[2] होते हुए ही दीख पड़ते हैं —इससे आगे रति-मग्न होते हुए नहीं।

फिर भी यह समझना भूल होगी कि 'बिहारी-सतसई' में विलास नहीं है। वह युग ऐसा था जब नारी को संग लेकर ही जगत् में कुछ रस मिल सकता था (इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत) (४२); जब 'चमक तमक हाँसी सिसक' (७६) ही साक्षात् मोक्ष थी; और जब सुन्दर देह का उपयोग केवल भोग ही समझा जाता था (क्योंकि न नृपति ह्वै भोगवै, लहि सुदेसु सब देह) (५)। बिहारी ने स्पष्ट कह दिया है कि इस भवसागर को सब लोग पार करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु कोई सफल नहीं हो पाता, स्त्री की छवि छाया-ग्राहिणी राक्षसी के समान कभी न कभी सबको अपनी ओर आकृष्ट कर इस समुद्र में डुबा लेती है :—

या भव पारावार कौ उलँघि पारि को जाइ।
तिय-छबि छायाग्राहिणी, ग्रहै बीच ही आइ ॥४३३॥

विशेषतः चढ़ती आयु में तो जगत् न जाने कितने अवगुण करता है — किते न औगुन जग करै बै-नै चढ़ती बार (४६१) और ऋतुराज अर्थात् यौवन में 'नव दल फल फूल'[3] के बदले लाज चली ही जाती है। इसलिए 'समय सौभाग्य' (३१३) को पाकर मन में गर्व नहीं करना चाहिये, प्रेम की जो शीतलता यौवन के ज्येष्ठ मास में आती है वह बुढ़ापे के माघ मास में नहीं सुहाती[4]।

मन पर स्थूल जगत का प्रभाव डालने वाली ज्ञानेन्द्रियों में से प्रेम का साधन कान तथा नेत्र हैं—किसी की मधुर वाणी को सुनकर भी हम अपना राग भूल जाते हैं (एरी रागु बिगारि गौ, बैरी बोल सुनाइ) (५५२); परन्तु बिहारी ने यह काम प्रायः नेत्रों को ही सौंपा है। नायिका की वह अदृष्टपूर्व चितवन सुजानों को वश में कर लेती है (वह चितवन औरै कछू, जिस बस होत सुजान (५८८); और नायक का रिझावन हार[5] रूप नायिका के रिझावार नेत्रों को अपने साथ लिये चला जाता है। नेत्रों के मिलने पर, तुल्यानुराग के लिए, मन का मिलना अत्यन्त आवश्यक है तभी प्रेमी और प्रेयसी अपने समस्त सांसारिक जीवन को मिलाकर एक कर सकते हैं। (नैन मिलत, मन मिलि गयो, दोऊ

१. कुसुम सेजोवरि नागरि नागर बइसल नवरति-साधे
प्रति अंग चुम्बन रस अनुमोदन थर-थर काँपय राधे ॥
२. जा तन की झाँई परैं, स्यामु हरित-दुरित होइ। (१)
३. अपत भएँ बिनु पाइहैं, क्यों नव-दल, फल, फूल।४७४
४. जिय की जीवनि जेठ, सो माह न छाँह सुहाइ।३१३
५. रूप रिझावन हारु वह, ए नैना रिझवार।६८२।

मिलवत भाइ (१२८)। जो युवती मन के मिलने पर भी चित्त मे स्निग्धता
ताली और अनन्य प्रेम को ठुकराती है वह भूल करती है, कवि ने उस
कितनी सहानुभूति से समझाया है :—

लग्यो सुमनु, ह्वं है सफलु आतप रोसु निवारि।
बारी, बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि ॥१६॥

*सभी मन सुमन नहीं होते* इसलिए यह आवश्यक नहीं कि नेत्रों का
मिलना सदा सु-फल ही हो जाय, ऐसी स्थिति मे एक ओर अपनी परवश
होती है दूसरी ओर उसकी निष्ठुरता – परस्पर मे बिम्बप्रतिबिम्ब भाव है,
जितने परवश होते हैं वह उतनी ही निर्मोही। बिहारी मे परवशता के दो
हैं—देह का दुर्बल होना[1] और नेत्रों का लोकलाज खोकर तड़पना[2]। इस
वशता में हाहाकार नहीं मिलता, प्रत्युत मूक रोदन है; उलाहना उसको
जाता है जो अपने से कुछ सम्बन्ध मानता हो, जो अपना नहीं रहा उस
*उलाहना देने में लज्जा आती है* (अब, अलि, देत उराहनो, अति उपजति
लाज) (२७१)। और जब तक जीना लिखा है तब तक इस शरीर मे प्राण
पड़े ही रहेंगे (परे रहौ तन प्रान) (२७५)। उसका भी क्या दोस, अपने मन ने
अपना कहना न माना तो अब तड़पना ही पड़ेगा, आज भी यमुना के उस कि
पर जाकर मन वही हो जाता है उन स्मृतियो मे डूबकर (*मन ह्वं जात अ*
*वहै, उहि जमुना के तीर*) (६८१)।

यदि नेत्रों तथा मन का मिलना सफल हो गया तो जीवन उल्लास से
जाता है, शरीर तो दो ही रहते हैं परन्तु अपना मन उसी के पास पहुँच ज
है। ऐसी दशा में *अन्तरंग सखी से प्रेम को छिपाने मे बड़ा रस आता है*—
सब कुछ जानती हुई भी हमारे मुख से स्वीकार कराना चाहती है, और हम
छिपाना नहीं चाहते, परन्तु सखी से सच्चे अनुमान की आशा रखते हैं। बिह
ने इस दिशा मे बड़े सुन्दर चित्र अंकित किये हैं, जिनको कुछ सावधानी से स
झना पड़ेगा; क्योंकि सखी का प्रिय-विषयक प्रश्न यह संकेत नहीं करता
नायिका न जाने किस-किस को प्रेम कर सकती है, प्रत्युत नायिका अनन्यहृद
ही है, सखी तो रली में उससे पूछती है :—

कौन गरीब निवाजिबो, कित तूठ्यो रतिराजु। (५८)
तजें लाज, डर लोक को, कहौ बिलोकति काहि। (५३३)
अब ही तनु रितयो, कहौ, मनु पठयो किहि पास। (५३४)
ए कजरारे कौन पर, करत कजाकी नैन। (६७०)

---

१. देह दूसरी होइ।५०२।
२. नैना नैकु न मानहीं कितो कह्यौ समुझाइ।१६०।
लाज नवाएँ तरफत, करत, खूँद ही नैन।५४२।
ए मुँहजोर तुरग ज्यों, ऐंचत हूं चलि जाहिं।६१०।

बिहारी का नायक कामुक जान पड़ता है, कभी 'नारि सलोनी साँवरी' (१६६) उसको नागिनी के समान डस जाती है, कभी 'बिथुरे सुथरे' (६५) बालों को देखकर उसका मद पथ-अपथ की याद भूल जाता है। परन्तु किसी पर मुग्ध होने के दो ही तो माध्यम हैं, रूप और गुण—नेत्र रूप पर टूटते हैं और मन गुण पर। जो नेत्र एक बार किसी के रूप पर मुग्ध होकर फिर अन्यत्र नहीं जाते उनको कवि ने बड़ा ही सहारा है—'क्यौंहू आनन आन सौं नैना लागत नैन' (२३२)। और जो मन सु-मन होगा वह बाहरी रूप पर नहीं जाता प्रत्युत अपनी रुचि पर जाता है, जो अनन्य होने के कारण सदा प्रशस्य है (मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ। ४३२।) बिहारी का युग ऐसा दुर्दिन था जिसमें अत्याचारों की दिगन्तव्यापिनी घटाओं ने सामाजिकों की दृष्टि को स्तम्भित कर दिया था, वे यह न जानते थे कि उनके लिए क्या सुख है और क्या दुःख है, अतः प्रिय का सम्पर्क ही सन्तप्त मन की तृप्ति का कारण बनकर, चकवा-चकवी के समान, उनके लिए सुख या दिन का सूचक था। एक दोहे में इसका संकेत है—

पावस-घन-अँधियार मैं, रह्यौ भेद नहिं आनु।
रात-द्यौस जान्यौ परत, लखि चकई चकवानु ॥४८६॥

इसीलिए अपना प्रिय साथ हो तो नरक[1] में भी दिन अच्छी तरह से कट सकते हैं।

युवावस्था में अनेक अवगुण करने के उपरान्त जब मनुष्य यम-करि के मुख के नीचे जा पड़ता है तब उसको 'नरहरि के गुन[2]' याद आने लगते हैं, उस अवस्था से उन दोहों का सम्बन्ध है जो भक्ति-मूलक हैं या नीतिविषयक, परन्तु पश्चात्ताप यहाँ भी नहीं मिलता। सुना है कि पतितों पर गोपीनाथ[3] की विशेष कृपा होती है उनके गुण-अवगुण का लेखा-जोखा नहीं होता (२२१)। यदि ऐसा है तो हमने जन्म भर जो कुछ किया, ठीक ही किया। और जो स्वयं त्रिभंगी[4] है उसको सरल हृदय में बसते हुए स्वयं बड़ा कष्ट होता। हाँ तनिक-सा भय इस बात का है कि जगत् के इस नायक को कहीं इस जगत् की हवा (जगबाइ ७१) न लग गई हो, और थोड़े से गुणों पर रीझने के अपने उस पुराने स्वभाव को भूलकर वह भी कलियुगी दानियों के समान कृपण न बन गया हो (६८)। आध्यात्मिक ताप से ही जब श्याम सदा पिघलते रहे हैं तो क्या मेरे हृदय के त्रयताप से वे पुलककर पसीज न जावेंगे—मैं ने तो अपना हृदय इसी विश्वास पर तीनों तापों से तपा रखा है :—

---

१. जो नहियैं सँग सजन तौ, धरक नरक हू की न ।७५।
२. नरहरि के गुन गाउ ।२१।
३. मेरे गुन और औगुन-गननु गनौ न गोपीनाथ ।२२३।
४. दुखी होहु गे सरल हिय बसत त्रिभंगी लाल ।४२५।

मैं तपाइ त्रयताप सौं, राख्यौं हियौ-हमामु ।
मति कबहुँक आयें यहाँ पुलकि पसीजैं स्यामु ।।२८१।।

अब काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष को देखिये । बिहारी की कला का सब से प्रमुख गुण वह है जिसको 'भाषा की समास शक्ति' कहा गया है और जिससे अभिप्राय यह है कि क्योंकि दोहा, छन्द इतना छोटा होता है कि इसमे परिस्थितियों का वर्णन नहीं हो सकता इसलिए उसमें प्रत्येक शब्द का स्थान तथा रूप अपने संकेत द्वारा पाठक की कल्पना का विस्तार करता है और अपेक्षित प्रसग में कमी नही ज्ञात होती । सुरति, संभोग आदि के कवि ने संकेत भर किए हैं; यदि ध्यान दिया जाय तो प्रत्येक दोहे में वर्ण्य वस्तु से पूर्व तथा उत्तर प्रसगों का आभास मिल जाता है । कुछ तो सामान्य हैं—मित्र का परनारी प्रेम (२६४), पितृमारक योग मे जारज पुत्र का जन्म (५७५), देवर के विवाह पर उससे प्रेम करने वाली भौजाई का विषाद (६०२) आदि; परन्तु अन्यत्र पाठक की कल्पना में अधिक मथन की आवश्यकता होती है ।

सतसई के अधिकतर दोहों में वक्ता का संकेत नही है, फलतः सखी, नायिका, नायक आदि यथावसर वक्ता-श्रोता बनकर रस के विविध सरोवरों को तरगित किया करते हैं ।

बिहारी की कला का एक गुण है अनेक मनोभावो का एक ही स्थल पर स्वाभाविक उदय । सपत्नी के पैरो पर सुन्दर महावर देखकर नायिका को ईर्ष्या हुई और जब उसने प्रियतम की अँगुलियों में महावर का रंग देखा तब तो मानो उसके हृदय में आग ही लग गई (२८७) । दूसरी बार नितान्त विपरीत हुआ सपत्नी के चरणों में बिखरा हुआ महावर देखकर नायिका उसके फूहड़पन पर खूब हँसी, परन्तु तत्काल ही उसने सपत्नी को लजाते देखा और उस महावर को पति के हाथ का जानकर नायिका की हँसी बीच में ही गहरे निश्वास में बदल गई (५०७) । सुखात्मक भावों से चलकर दुःखात्मक भावों में अवसित होना बिहारी की कला की एक विशेषता है—सुख एक सामान्य परिधान है प्रायः दुख भी इसी की छाया में छिपा रहता है । अन्य कवियों के समान किलकिंचित् हाव की प्रभा बिहारी मे स्थान-स्थान पर बिखरी पड़ी है (४७२, ५२७, ५४२) । ध्यान इस बात पर भी जाता है कि शृंगार के दूसरे कवियों ने प्रेममुग्ध चित्त की अस्थिर दशा को ही अपने काव्य का विषय बनाया था, परन्तु बिहारी ने यह भी अनेक स्थलो पर दिखलाया है कि नायक की लंपटता के कारण नायिका को कौन कौन-सी मानसिक स्थितियों से निकलना पड़ता है ।

ब्रजभाषा के पारखी बिहारी की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते । सतसई के माधुर्य में जितना हाथ तत्सम शब्द भण्डार का है उतना ही ब्रज की ग्रामीण शब्दावली का भी । कवि के सामने कसौटी केवल एक है स्वाभाविकता, जिस पर कस कर माधुर्य की आभा से चमचमाते हुए शब्दों को वह बड़ी सावधानी से जड़ देता है 'गोरटी' (६३, १३६), ऊजरी (५१२), सलोनी

बिहारी का नायक कामुक जान पड़ता है, कभी 'नारि सलोनी साँवरी' (१६६) उसको नागिनी के समान डस जाती है, कभी 'बिथुरे सुथरे' (६१) बालों को देखकर उसका मद पथ-प्रपथ की याद भूल जाता है। परन्तु किसी पर मुग्ध होने के दो ही तो माध्यम हैं, रूप और गुण—नेत्र रूप पर टूटते हैं और मन गुण पर। जो नेत्र एक बार किसी के रूप पर मुग्ध होकर फिर अन्यत्र नहीं जाते उनको कवि ने बड़ा ही सहारा है—'क्यौंहूं आनन आन सौं नैंना लागत नैंन' (२३२)। और जो मन सु-मन होगा वह बाहरी रूप पर नहीं जाता प्रत्युत अपनी रुचि पर जाता है, जो अनन्य होने के कारण सदा प्रशस्य है (मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ। ४३२।) बिहारी का युग ऐसा दुर्दिन था जिसमें अत्याचारों की दिगन्तव्यापिनी घटाओं ने सामाजिकों की दृष्टि को स्तम्भित कर दिया था, वे यह न जानते थे कि उनके लिए क्या सुख है और क्या दुःख है, अतः प्रिय का सम्पर्क ही सन्तप्त मन की तृप्ति का कारण बनकर, चकवा-चकवी के समान, उनके लिए सुख या दिन का सूचक था। एक दोहे में इसका संकेत है—

पावस-घन-अँधियार मैं, रह्यौ भेद नहिं आनु।
रात-द्यौस जान्यौ परत, लखि चकई चकवानु ॥४८६॥

इसीलिए अपना प्रिय साथ हो तो नरक[1] में भी दिन अच्छी तरह से कट सकते हैं।

युवावस्था में अनेक अवगुण करने के उपरान्त जब मनुष्य यम-करि के मुख के नीचे जा पड़ता है तब उसको 'नरहरि के गुन[2], याद आने लगते हैं, उस अवस्था से उन दोहों का सम्बन्ध है जो भक्ति-मूलक हैं या नीतिविषयक, परन्तु पश्चात्ताप यहाँ भी नहीं मिलता। सुना है कि पतितों पर गोपीनाथ[3] की विशेष कृपा होती है उनके गुण-अवगुण का लेखा-जोखा नहीं होता (२२१)। यदि ऐसा है तो हमने जन्म भर जो कुछ किया, ठीक ही किया। और जो स्वयं त्रिभंगी[4] है उसको सरल हृदय में बसते हुए स्वयं बड़ा कष्ट होता। हाँ तनिक-सा भय इस बात का है कि जगत् के इस नायक को कहीं इस जगत् की हवा (जगवाइ ७१) न लग गई हो, और थोड़े से गुणों पर रीझने के अपने उस पुराने स्वभाव को भूलकर वह भी कलियुगी दानियों के समान कृपण न बन गया हो (६८)। आध्यात्मिक ताप से ही जब श्याम सदा पिघलते रहे हैं तो क्या मेरे हृदय के त्रयताप से वे पुलककर पसीज न जावेंगे—मैं ने तो अपना हृदय इसी विश्वास पर तीनों तापों से तपा रखा है :—

---

१. जो लहियै संग सजन तो, धरक नरक हू की न ।७१।
२. नरहरि के गुन गाउ ।२१।
३. मेरे गुन और औगुन-गननु गनौ न गोपीनाथ ।२२१।
४. दुखी हो हुगे सरल हिय बसत त्रिभंगी लाल ।४२५।

मैं तपाइ त्रयताप सौं, राख्यौ हियौ-हमामु ।
मति कबहुँक आयें यहाँ पुलकि पसीजें स्यामु ।।२८१।।

अब काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष को देखिये। बिहारी की कला का सब से प्रमुख गुण वह है जिसको 'भाषा की समास शक्ति' कहा गया है और जिससे अभिप्राय यह है कि क्योंकि दोहा, छन्द इतना छोटा होता है कि इसमें परिस्थितियों का वर्णन नहीं हो सकता इसलिए उसमें प्रत्येक शब्द का स्थान तथा रूप अपने संकेत द्वारा पाठक की कल्पना का विस्तार करता है और अपेक्षित प्रसग मे कमी नहीं ज्ञात होती। सुरति, संमोग आदि के कवि ने संकेत भर किए हैं; यदि ध्यान दिया जाय तो प्रत्येक दोहे में वर्ण्य वस्तु से पूर्व तथा उत्तर प्रसगों का आभास मिल जाता है। कुछ तो सामान्य हैं—मित्र का परनारी प्रेम (२६४), पितृमारक योग में जारज पुत्र का जन्म (५७५), देवर के विवाह पर उससे प्रेम करने वाली भौजाई का विषाद (६०२) आदि; परन्तु अन्यत्र पाठक की कल्पना में अधिक मंथन की आवश्यकता होती है।

सतसई के अधिकतर दोहों मे वक्ता का संकेत नहीं है, फलतः सखी, नायिका, नायक आदि यथावसर वक्ता-श्रोता बनकर रस के विविध सरोवरों को तरंगित किया करते हैं।

बिहारी की कला का एक गुण है अनेक मनोभावों का एक ही स्थल पर स्वाभाविक उदय। सपत्नी के पैरों पर सुन्दर महावर देखकर नायिका को ईर्ष्या हुई और जब उसने प्रियतम की अँगुलियों में महावर का रंग देखा तब तो मानो उसके हृदय मे आग ही लग गई (२८७)। दूसरी बार नितान्त विपरीत हुआ सपत्नी के चरणों मे बिखरा हुआ महावर देखकर नायिका उसके फूहड़पन पर खूब हँसी, परन्तु तत्काल ही उसने सपत्नी को लजाते देखा और उस महावर को पति के हाथ का जानकर नायिका की हँसी बीच मे ही गहरे निश्वास में बदल गई (५०७)। सुखात्मक भावों से चलकर दुःखात्मक भावों में अवसित होना बिहारी की कला की एक विशेषता है—सुख एक सामान्य परिधान है प्रायः दुख भी इसी की छाया में छिपा रहता है। अन्य कवियों के समान किलकिंचित् हाव की प्रभा बिहारी में स्थान-स्थान पर बिखरी पड़ी है (४७२, ५२७, ५४२)। ध्यान इस बात पर भी जाता है कि शृंगार के दूसरे कवियों ने प्रेममुग्ध चित्त की अस्थिर दशा को ही अपने काव्य का विषय बनाया था, परन्तु बिहारी ने यह भी अनेक स्थलों पर दिखलाया है कि नायक की लंपटता के कारण नायिका को कौन कौन-सी मानसिक स्थितियों से निकलना पड़ता है।

व्रजभाषा के पारखी बिहारी की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। सतसई के माधुर्य में जितना हाथ तत्सम शब्द भण्डार का है उतना ही व्रज की ग्रामीण शब्दावली का भी। कवि के सामने कसौटी केवल एक है स्वाभाविकता, जिस पर कस कर माधुर्य की आभा से चमचमाते हुए शब्दों को वह बड़ी सावधानी से जड़ देता है 'गोरटी' (६३, १३६), ऊजरी (५१२), सलोनी

(५१२), रंगीली (५११), कजरारे (६७०) आदि शब्द उसकी कसौटी की सार्थकता सिद्ध करते हैं। शब्दों के साथ अर्थ बँधा होता है और हृदय लिपटा हुआ, अतः शब्द-विशेष के सुनने से मन में अनेक भाव यथोचित मात्रा में जग पड़ते हैं। 'स्यौहार' तथा 'नीठि' शब्दों का ऐसा ही प्रयोग देखने योग्य है—

रह्यौ, गुही बेनी, लख्यो गुहिबे को स्यौनार।
लागे, नीर चुचान ये, नीठि सुकाये बार॥४८०॥

जब नायक नायिका की वेणी गूँथने लगा तो प्रेमाधिक्य के कारण नायिका को स्वेद सात्विक हो गया और उसके केश फिर भीग गए, तब वह अधिकार-पूर्वक नायक को डाँटती है—रहने भी दो, तुमने गूँथ दी मेरी चोटी, तुम्हारा स्यौनार देख लिया, जिन केशों को मैंने इतने प्रयत्न से सुखाया था वे फिर पानी से चुचाने लगे—इसी पर अपने को बड़ा कुशल समझा करते हो। 'स्यौनार' शब्द का अर्थ है 'कुशलता', परन्तु इसका प्रयोग उस समय होता है जब कोई व्यक्ति अपने को कुशल समझकर किसी काम में मनमानी करे और उसको बिगाड़ दे। 'नीठि' शब्द का अर्थ है 'बड़ी कठिनाई से' 'बड़ी सावधानी से' इसमें प्रयत्न शारीरिक भी होता है और मानसिक भी—'स्यौनार' प्रतिभा का विषय है परन्तु नीठि' साधना का। नायिका ने इन शब्दों का प्रयोग एक दूसरे के जोड़ में एक दूसरे का सामना करने के लिए किया है।

"मति" शब्द का अर्थ है 'हम तैयारी कर छोड़ें शायद कभी अवसर आ जावे' इसमें अपना प्रयत्न भी निहित है तथा अन्य विषयक आशा भी, कबीर ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है—"मति थे रामु दया करैं, बरसि बुझावैं अगिन"; बिहारी का प्रयोग और भी सात्विक है—"मति कबहूँक आएँ यहाँ, पुलकि पसीजैं स्यामु" (२८१)। "भलें" या "भली" शब्द का प्रयोग, ब्रजभाषा के 'भालो' से भिन्न, एक प्रकार के विपरीत व्यंग्यार्थ में भी आता है, जैसे सूर में हैं—'ऊधो भली करी हम आये' यही प्रयोग बिहारी में भी देखने योग्य है—भलें पधारे, पाहुने, ह्वै गुडहर को फूल, (५६५)—'पधारे' क्रिया ने व्यंग्य को और भी तीखा कर दिया है।

बिहारी की भाषा में इस प्रकार के शब्द-रत्नों की कमी नहीं, प्रत्येक शब्द के पीछे जीवन की कोई न कोई कहानी छिपी हुई है। हम यहाँ केवल दो और प्रयोगों को देखते हैं। 'गहिलो, गरबु न कीजिये, समै सुहागहिं पाइ' (३११)—यहाँ सखी ने नायिका को समझाते हुए उसके कोप को शान्त करने का प्रयत्न किया है। 'गहिली' शब्द 'गहीली' अर्थात् 'हठीली' से भिन्न है, कम से कम बिहारी में, और इसका अर्थ है 'पगल पगली'; जिसमें प्यार भी भरा है तथा झिड़कन भी। गुजराती में इसका प्रयोग 'प्यारी गन्दी' के अर्थ में होता है—'तू गहेली छे'। दूसरा प्रयोग है 'ऐरी, रागु बिगारि गौ बैरी बोलु सुनाइ' (५५२), [illegible]' शब्द का अर्थ 'शत्रु' नहीं है और न इसका विपरीत अर्थ 'मित्र' ही, [illegible] यह है जो हमको ऐसा स्थायी दुःख दे गया, जिसको हम भूलना नहीं

चाहते, जब किसी स्त्री का पति या पुत्र मर जाय या सदा के लिए परदेश चला जाय तो वह विलाप करती हुई उसके लिए इस शब्द का प्रयोग करती है।

सतसई में मुहावरों की छटा भी देखने योग्य है, परन्तु वहाँ बिहारी का कौशल नहीं, उसकी विशेषता तो खिलवाड़ में ही भावों की चाशनी बना देना है। कहते हैं कि प्रेमी मुख से कुछ नहीं कहते, एक दूसरे की ओर देखकर ही अपने मन की बात नेत्रों के द्वारा बतला दिया करते हैं; यह भी कहा जाता है कि मन में बात सत्य होती है और वचन में प्रायः असत्य। कवि ने इसी भाव को लेकर लिखा है—

*झूठे जानि न संग्रहे, मन मुँह निकसे बैन।*
*याही ते मानहु किये, बातनु कौ बिधि नैन ॥३४४॥*

जो व्यंजन खाया जा रहा है वह जूठा है यदि उसको मुख से उगल दिया जाय तो उसका संग्रह कौन करेगा, वह तो घृणा की वस्तु हो गई, इसी प्रकार मुख से निकले वचन हैं जिनका सग्रह अर्थात् विश्वास नहीं किया जा सकता। उगले हुए व्यंजन का ध्यान आते ही मुख से कही गई बातों की असारता स्पष्ट हो जाती है।

बिहारीकी अप्रस्तुत-योजना स्वयं एक स्वतन्त्र विषय है, शृंगारी काव्य की यमक-अनुप्रास-प्रियता इस कवि में और भी निखरा रूप दिखलाती है, वह जितना सावधान 'टाटी ओर उसास' (२९२) के सुनने में था, उतना ही दीपक को बुझा कर देह से ही दीपक का काम लेने में भी (६९); एक ओर उसने वियोग की ज्वाला से ग्राम में लुएँ चलती देखी हैं (२८५) तो दूसरी ओर नायिका की दशा का 'नाउँ सुनत ही ह्वै गयो तनु औरें मनु और' से ही संकेत कर दिया है।

कवि की लेखनी से जितने खरे चित्र संयोग के उतरे हैं उतने वियोग के नहीं। वह नारी के विविध चित्रों में जितना तल्लीन था उसका शतांश भी पुरुष के चित्रों में *नहीं— नायिकाएँ* तो गुण-कर्म-स्वभाव से अनेक हैं उनके *भाँति-भाँति* के रूप मिलते हैं परन्तु उनका सेव्य नायक तो एक मात्र नन्दकिशोर ही है—ज्यौं त्यौं सबकौ सेइबौ एकै नन्द किसोर (५८१)। रस के छलकते हुए वातावरण में रहने पर भी बिहारी कविकर्म में ध्वनिवादी थे, उनकी कला संकेत मूलक है वर्णन-प्रधान नहीं; इसलिए उनके काव्य को पढ़कर पाठक को मनोभावों का साक्षात् अनुभव नहीं होता प्रत्युत कवि की कुशलता पर रीझकर वह उसे साधुवाद देने लगता है।

---

# १६ | बिहारी सतसई में विदेशी शब्दावली

मुगल अकबर के शासन-काल में टोडरमल खत्री ने फारसी को राजभाषा घोषित करा दिया, फलतः राजकीय सेवा तथा राजकीय कृपा के आकांक्षी भारतीय युवक फारसी पढ़ने और लिखने लग गये। अकबर के पुत्र जहांगीर तथा पौत्र शाहजहाँ का राज्यकाल विलास-कला के ब्याज से भारतीय जीवन पर विदेशी प्रभाव के लिए प्रसिद्ध है। औरंगजेब के समय तक भारतीय समाज विदेशी प्रभाव से निरन्तर आकृष्ट होने लग गया था। बिहारी के आश्रयदाता जयसिंह औरंगजेब के *सम्मान्य सेनापति थे और 'जयशाह'*[1] *नाम से भी जाने जाते थे।* विदेशी रंग में रँगे हुए इस राजा की आज्ञा से[2] बिहारी ने उत्कृष्ट ब्रजभाषा में 'सतसई' की रचना की; 'बिहारी-सतसई' साहित्यिक ब्रजभाषा के लिए आलोचकों के बीच आदर[3] प्राप्त करती रही है।

बिहारी-सतसई में सात सौ तेरह दोहे हैं और प्रयुक्त शब्दों की संख्या बारह हजार से अधिक है। यदि कुछ शब्द एक से अधिक बार आये होंगे तो दस हजार शब्द ऐसे बच जाते हैं जिनका बिहारी ने प्रयोग किया है। इस शब्द-समूह में विदेशी शब्द संख्या में सौ से कम हैं जो प्रयुक्त शब्दावली का एक प्रतिशत अंश भी नहीं हैं। तात्पर्य यह कि औरंजेब के राज्यकाल तक भारतीय जीवन में विदेशी प्रभाव जितना भी आसका हो परन्तु भारतीय साहित्य की भाषा पर विदेशी प्रभाव एक प्रतिशत भी नहीं आ सका था। मुगल शासन के समस्त आतंक, आकर्षण, चमत्कार एवं सफलता के रहते हुए भी भारतीय साहित्य-भाषा बड़ी कठिनाई से एक प्रतिशत से भी कम विदेशी शब्द ले सकी थी। राष्ट्रीय साहित्य एवं संस्कृति का विकास स्वावलम्ब से होता है, विदेशी मुखापेक्षिता से

---

१. बाढ़ुबली जयसाहिजू, फते तिहारे हाथ (७१०)

२. हुकुम पाइ जयसाहि को, हरि-राधिका-प्रसाद (७११)

३. ब्रजभाषा बरनी सबै, कवि-बर बुद्धि-बिशाल।
   सबकी भूषन सतसई, रची बिहारी लाल॥

नहीं, यह निष्कर्ष देश-काल के प्रत्येक भाग में सत्य सिद्ध होता है।

बिहारी में विदेशी शब्द प्राय: तीन मार्गों से आये हैं—विदेशियों के साथ प्रशासनिक अथवा राजनीतिक सम्पर्क, विदेशियों के साथ सांस्कृतिक अथवा कला-मूलक सम्पर्क, तथा विदेशियों के साथ सामाजिक सम्पर्क। राजनीतिक सम्पर्क के कारण विदेशी शब्द आदिकालीन रासो काव्यों में भी प्रयुक्त होने लगे थे, विशेषत: विदेशियों के साथ युद्ध के प्रसंग में। औरंगजेब के समय तक आते-आते सेना, शासन, न्याय, राजस्व आदि में जो विदेशी पारिभाषिक शब्द क्वचित् अर्थ-परिवर्तन के साथ भारतीय जीवन में प्रयुक्त होने लगे। बिहारी-सतसई में राजनीतिक-प्रशासनिक प्रभाव के कारण सबसे अधिक विदेशी शब्दों का प्रयोग हुआ है; इनकी संख्या योग की एक-तिहाई से भी अधिक है।

इस वर्ग में सेना-विभाग से आनेवाले विदेशी शब्दों में मुख्य हैं—फौज (दोहा[1] संख्या ८०,१६८ तथा २१५), सेना। निसान(दो० १०३)—ध्वज। रोहास (दो० १४५)—अश्व। हरौल (तुर्की-हरावल) (दो० १६८) सेना का अग्र भाग। गोल (तुर्की-गोल) (दोहा १६८)—मुख्य सेना। मुलुक (दो० २२०)—देश। आमिर (अरबी) (दो० २२०)—शासक। जोर (फा०) (दो० २२०) अत्याचार। कमान (दो० ३१६ तथा ३५६)—धनुष। कमनैती (दो० ३५६)—धनुर्विद्या। अकस (अरबी-अक्स) (दो० ४१६) शत्रु। फतै (दो० ७१०)—विजय। नावक (फा-नाव) (दो० ५७०)—नलिका से चलाया जानेवाला बाण।

सैन्येतर प्रशासनिक जीवन से जो विदेशी शब्द बिहारी की सतसई में आए हैं, उनमें मुख्य हैं :

इजाफा (अरबी) (दो० २) - वृद्धि; कर अथवा वेतन में वृद्धि।
गरीबु निवाजिबो (दो० ५८) (गरीब-अरबी, निवाज—फा०)—कृपाभाव।
रकम (अरबी) (दो० २२०) — अंक, धनराशि।
दरबार (दो०२४१) — राजसभा।
खूनी (फा०) (दो० ३२५) हत्यारा।
खुस्याल (फा० खुशहाल) (दो० ३२५)—सुखी।

राजनीतिक सम्पर्क ने सांस्कृतिक अथवा कलात्मक सम्पर्क को अनिवार्य बना दिया। फलत: कतिपय सामयिक अभिव्यक्तियों के निमित्त विदेशी शब्दावली का प्रयोग होने लगा। बिहारी ने इस शब्दावली में सबसे अधिक अनुराग पाटल के प्रति दिखलाया है और एक दर्जन दोहों में 'पाटल' के विदेशी नाम 'गुलाब' का प्रयोग है। बाग, दरी, फानूस, परी आदि अनेक विदेशी शब्द विदेशी संस्कृति के साथ, बिहारी की भाषा में अनायास ही आ गये हैं। सांस्कृतिक संपर्क के कारण आगत विदेशी शब्दों का विवरण इस प्रकार है :

---

१. दोहा संख्या 'बिहारी रत्नाकर' (१६२१) ई० के अनुसार है।

बेकाज (दो० १२६,२७२ तथा ४४६)—व्यर्थ।
अचकाँ (दो० १४२)—अकस्मात् चुप-चाप।
हजार (दो० १४५,२१३,२४१ तथा ३५१)—सहस्र।
बेहाल (दो० १५४,३७५ तथा ६०१)—चिन्ताजनक दशा में।
बेकाम—(दो० १७०)—व्यर्थ।
रुख (फा०) (दो० २१६,२४३,३६४ तथा ४१५)—मुख चेष्टा।
यारि (दो० ३८६)—स्त्री-मित्र, प्रेमपात्री
नाहक (दो० ४०१)—अकारण।
गरजनु (अ-गरज) (दो० ४०६)—स्वार्थ।
आब (फा) (दो०४३८)—पानी, प्रतिष्ठा।
सोरु (दो० ५८१)—चिल्लाना।
दाग—(दो० ५८७)—चिन्ह।
जुदी (दो० ६१६)—अलग।

बिहारी सतसई में कम से कम चार ऐसे विदेशी शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो उस समय देश ने नहीं अपनाये थे और आज भी विदेशी दिखलाई पड़ते हैं। ये शब्द हैं—आमिर, सबी, अकस तथा सबील। 'आमिर' (दो० २२०) अरबी भाषा का शब्द है, इसका अर्थ है 'शासक', कदाचित् 'बलात् अत्याचार-पूर्वक अपना आदेश चलाने वाला'; उस युग में अरबी भाषा का यह शब्द युद्ध की जय-पराजय से संयुक्त हो गया होगा, क्योंकि नृशंस अत्याचार विदेशियों में गर्हित नहीं समझे जाते थे। सबी' (दो० ३४७) शब्द अरबी के 'शबीह' का देशी रूप है, इसका अर्थ 'छवि' अथवा 'चित्र' है, बंगभाषा के 'छवि' शब्द का प्रयोग 'प्रतिकृति' 'मूर्ति,' 'चित्र' अर्थों में भी होता है। 'अकस' (दो० ४१६) शब्द अरबी भाषा के 'अक्स' से आया है, मुख्य अर्थ है 'विपरीत'; परन्तु 'शत्रु' अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है, बिहारी ने 'वैर' अर्थात् 'शत्रुता' के लिये 'अकस' शब्द का प्रयोग किया है। 'सबील' (दो० ६५४) शब्द भी अरबी भाषा का है, इसका अर्थ 'रीति' अथवा 'मार्ग' है, बिहारी ने 'उपाय' के अर्थ में इसका प्रयोग किया है। संयोग की बात है कि ये चारों शब्द अरबी भाषा के हैं और तुक आदि कविता की अनिवार्यता के कारण से बिहारी ने इनका प्रयोग नहीं किया, इन शब्दों में रूप-परिवर्तन की भी इच्छा नहीं जान पड़ती।

बिहारी की भाषा में विदेशी शब्दावली के साथ ही विदेशी उपसर्ग भी प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत के उपसर्ग 'वि' के समान फारसी में 'बे' उपसर्ग था, सतसई में इसका अनेकधा प्रयोग है। बेपाय (दो० ४४), बेकाज (दो० १२२, २७२, तथा ४४६), बेहाल (दो० १५४,३७५, तथा ६०१), बेकाम(दो० १७०)।

'बेकाज' में विदेशी उपसर्ग का योग तद्भव शब्द 'काज' के साथ है, जबकि 'बेकाम' में यह उपसर्ग तद्भव शब्द 'काम' के साथ आता है—संकर शब्दों का यह निर्माण भाषाशास्त्र की दृष्टि से रोचक है। संकर शब्द का सुन्दर

उदाहरण 'छाहगीर' (दो० २३१) है; जो फारसी का 'साय:गीर' था, साय: में संस्कृत का 'छाया' तथा भाषा का 'छाँह' है, ब्रजभाषा के शब्द में फारसी प्रत्यय 'गीर' लगने से 'छाह्-गीर' बन गया। विदेशी संज्ञाओं को ब्रजभाषा का व्याकरण पहनाकर बिहारी पाठकों के सामने लाते हैं। 'मुलुकु' (दो० २२०), 'हमामु' (दो० २८१), 'गरजनु' (दो० ४०६)—'गरज' का बहुवचन, 'बयानु' (दो० ४३४), 'गोद', (दो० ५८१) आदि उदाहरण द्रष्टव्य हैं। संख्यावाचक शब्दों में केवल 'हजार' (दो० २१३, २४१ तथा २५१) का प्रयोग है। 'पचकों' (दो० १४२) शब्द सतसई में एक बार आया है, इसका प्रयोग उर्दू में तो प्राय: होता है, परन्तु ब्रजभाषा में नहीं —बिहारी का यह प्रयोग असामान्य है।

विदेशी शब्दावली के विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि अधिकतर शब्द फारसी के हैं, कतिपय अरबी के, तथा केवल तीन तुर्की के—कदाचित् अरबी-तुर्की के ये शब्द फारसी में गौरवास्पद स्थान प्राप्त कर चुके थे। अरबी के शब्द हैं—मौज (दो० ८०) अमिर (दो० २२०), रकम (दो० २२०), हमामु (दो० २८१), सबी (दो० ३४७), गरूर (दो० ३४७), गरजनु (दो० ४०६), मकस (दो० ४१६), सबील (दो० ६५४)। तुरकी के दो शब्द हरौल (हरावल) तथा 'गोल' दोहा संख्या १६८ में हैं और एक शब्द 'कजाकी' दोहा संख्या ६७० में है।

विदेशी शब्दों का प्रयोग बिहारी ने अलंकार (प्राय: शब्दालंकार) और छन्द के आग्रह से—तुक, विराम, मात्राओं अथवा गण के लिए कम किया है, प्राय: ध्वनि अथवा काव्यात्मक व्यंजना के निमित्त ही वे उपयुक्त विदेशी शब्दों को अपनाते हैं। अलंकार के आग्रह से आगत विदेशी शब्दों के कुछ उदाहरण देखिए :

दो० सं० ४४—पाइ महावरु देइ को, आपु भई बे-पाइ (यमक)
दो० सं० ६३—ए बदरा बदराह (यमक)।
दो० सं० ६६—परी परी सी टूटि (यमक)।
दो० सं० १७०—रहै काम बेकाम (यमक)।
दो० सं० २१४—हद रद छद छवि देति यह—(अनुप्रास)।
दो० सं० ३०६—लीजै सुरंग लगाइ। (श्लेष)
दो० सं० ३८६—उर लगि यारि बयारि (यमक)।
दो० सं० ६१६—नैंकी उहि न जुदी करी, हरषि जु दी तुम माल (यमक)।
दो० सं० ६५४—बचे न बड़ी सबील हू—(अनुप्रास)।

छन्द के आग्रह से आगत विदेशी शब्दों के विषय में विचारकों का एकमत होना कठिन है, क्योंकि विराम, मात्राओं अथवा गण के कारण विदेशी शब्दों के प्रयोग जानना अकाट्य तर्क पर आधृत नहीं हो सकता। परन्तु तुक की खोज निकालना कठिन नहीं है। सतसई के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

'सिरताज' (दो० ४), बलाइ (दो० ३७ तथा १६५), हवाल (दो० ३८), बे-गाइ (दो० ४४), 'सिकार' (दो० ४५), कबूलि (दो० ५१), निसान (दो० १०३), बेहाल (दो० १५४), बखानु (दो० ४३४), सोर (दो० ५८१) दाग (दो० ५८७)।

इन सबमें विदेशी शब्द चरणान्त में आया है और वह किसी देशी शब्द से तुक मिलाने के लिये प्रयुक्त हुआ है।

ध्वनि अथवा काव्यात्मक व्यंजना के लिए युगधर्म के अनुसार शब्दों में शक्ति आ जाती है। विदेशी प्रभाव के कारण कतिपय विदेशी शब्द सफल व्यंजक बन गये थे। बिहारी ने इस वर्ग में विदेशी शब्दों का प्रयोग दो रूपों में किया है—अर्थालंकार का अंग बनाकर, तथा केवल व्यंजना के निमित्त। प्रथम अर्थालंकार के अंग बनकर आने वाले विदेशी शब्दों को देखिए :

दो० सं० १४०—दीने हूं चसमा चखनु, चाहे लहै न मीचु (मानवीकरण)
दो० सं० १५१—दियैं लोभ-चसमा चखनु,लघु पुनि बड़ो लखाइ (रूपक)
दो० सं० १७८—खेलि प्रेम-चौगान (रूपक)।
दो० सं० १६८ हुलकी फौज हुलोल ज्यों, परैं गोल पर भीर (उदाहरण)
दो० सं० २२—नव नागरि-तन-मुलुक लहि, जोवन-आमिर-जोर (रूपक)
दो० सं० २४०—दृग-मलिग डारे रहत (रूपक)
दो० सं० २३१ मनो मदन छितिपाल की, छांहगीर छवि देतु (उत्प्रेक्षा)
दो० सं० ३६६—कालबूत-दूती बिना, जुरै, न और उपाइ (रूपक)
दो० सं० ४१३—दृग-पग-पोंछन कौं करे, भूषन-पायदाज (रूपक)
दो० सं० ६०३—अरगट ही फानूस सी, परगट होति लखाइ (उपमा)
दो० सं० ६१०—लाज-लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं (रूपक)

दोहा संख्या ३६६ में कवि ने दूती को कालबूत[1] बना दिया है जो अत्यन्त अभिव्यंजनापूर्ण है। किसी भवन में गोलाई लाने के लिए ईंटों का आधार बनाया जाता है जिस पर गोलाई टिक सके। जब गोलाई सूखकर पक्की हो जाती है तो ईंटों का आधार हटा दिया जाता है। इसी कालबूत की सरूपता दूती से है। दूती, दो व्यक्तियों के बीच को मिलाने के लिए दोनों को झुकाते हुए एक अर्धवृत्त बनाती है और स्वयं उसका आधार बन जाती है। जब प्रेम पक्का हो जाता है तो दूती को हटा दिया जाता है—वह बाहरी व्यक्ति है। प्रेम का सौन्दर्य, दूती पर टिके रहने में नहीं, उसको बिल्कुल हटा देने में है। बिहारी का रूपक अत्यधिक प्रभावशाली है। भवन-निर्माण-कला से एक विदेशी शब्द लेकर कवि ने उस युग

१. कालबूत-दूती बिना, जुरै न और उपाइ।
फिरि ताकैं टारैं बनै, पाकैं प्रेम-लदाइ ॥३६६॥

के परकीय प्रेम को पाठक के सामने बड़ी सफलता से अंकित कर दिया है। दोहा सं० ४१३ को देखिए। जब कोई अतिथि बाहर से भीतर आता है तो कमरे में घुसने से पूर्व वह अपने पैरों को 'पायदान' पर धीरे से रगड़कर साफ कर लेता है, अगर ऐसा न करे तो मार्ग की धूलि कमरे के कालीन को गन्दा कर देगी। बिहारी ने नायिका के आभूषणों को पायन्दाज बना दिया है। जब दृष्टि नायिका के सौन्दर्य में प्रवेश करने लगती है तो सर्वप्रथम आभूषणों पर अपने चरणों की धूलि साफ करती है, फिर सौन्दर्य-कक्ष में प्रवेश करती है। आभूषण सौन्दर्य की अतिशयता में योग नहीं देते, दर्शक की दृष्टि को निर्मल बनाने के साधन मात्र हैं, उस सहज सौन्दर्य में वही दृष्टि प्रवेश पा सकती है जो इधर सौन्दर्य की मार्ग-रज से अनिवार्यतः प्राप्त मालिन्य को इन आभूषणों पर रगड़ कर साफ कर ले। आभूषण सौन्दर्य के न कर्ता हैं और न अतिशयता, वे तो सौन्दर्य-कक्ष के द्वार के बाहर रखे हुए पायन्दाज हैं जिनका कार्य दर्शक की दृष्टि से इतर-सौन्दर्य-जन्य मलिनता का अपहरण है, दृष्टि को निर्मल करते हैं—यही बस काम है उनका।

विदेशी शब्दों की सहायता से आगत व्यंजना के चमत्कार बिहारी की भाषा में अनेक हैं, अर्थालंकारों में भी पर्याप्त व्यंजना थी। कतिपय स्वतन्त्र उदाहरण देखे जा सकते हैं :

दो० सं० २—स्तन, मन, नैन, नितंब को, बड़ो इजाफ़ा कीन।
(पारिभाषिक शब्द 'इजाफ़ा' सकारण वृद्धि की व्यंजना करता है)
दो० सं० ४५—कानन-चारी नैन-मृग नागर नरनु सिकार।
(नेत्रों का शिकार बनने में नायक के मन की लंपटता व्यंजित है)
दो० सं० ५१—दई दई सु कबूलि।
('कबूलि' में भय मानकर अंगीकार करने की व्यंजना है)
दो० सं० २४१—पर्‌यो रहौ दरबार।
(दरबार से ईश्वर के सार्वभौम शासन की सूचना है)
दो० सं० ४०५—नाजुक कमला बाल।
('नाजुक' शब्द से शरीर के सौन्दर्य की अनेक प्रकार की व्यंजना है)
दो० सं० ५८१—बादि मचावत सोरु।
('सोरु' शब्द में साधना का अभाव एवं मतवाद-मात्र व्यंजित है)
दो० सं० ५८७—लखि बेनी के दाग।
('दाग' केवल चिह्न नहीं, कलंक भी है)
दो० सं० ६७०—ए कजरार कौन पर, करत कजाकी नैन।
('कजाकी' शब्द नायक की लम्पटता का द्योतक है)

जिन विदेशी शब्दों का प्रयोग अलंकार-मात्र के लिए नहीं हुआ उनकी

---

१. मानहु बिधि तन-अच्छ छबि, स्वच्छ राखिबै काज।
दृग-पग पौंछन कौं करे, भूषन पायंदाज ॥४१३॥

व्यंजना भी बड़ी प्रभावशाली है। दूसरे दोहे में शैशव तथा यौवन में जय-पराजय का संघर्ष चला, अन्त में यौवन की जय हुई और शैशव की पराजय। यौवन का नायिका के तन-मन पर राज्य हो गया। वह चतुर शासक है। उसने उन सभी अंगों की उन्नति कर दी, जिन्होंने शैशव के विरुद्ध यौवन की खुलकर सहायता की थी। इसी उन्नति को 'इजाफा'[1] कहते हैं, किसी को जागीर दे देना, किसी को पंचहजारी बना देना, किसी को उच्च अधिकारी बना देना, किसी को कोई ऊँचा खिताब दे देना। संसार में यौवन की (अंगों) जय इन सहायक अंगों की अभिवृद्धि से ही जानी जाती है, 'स्तन, मन नैन, नितंब' के असाधारण (बड़ो) इजाफे से ही तो 'यौवन-नृपति' की जय दिखलाई पड़ती है। दोहा संख्या २२० में विदेशी शब्दों का रूपक के निमित्त प्रयोग करके यही भाव अंकित किया गया है। बलशाली नृपति यौवन ने प्रतिद्वन्द्वी शैशव को पराजित करके बड़ी कठिनाई से 'नव-नागरि-तन-मुलुक'[2] पर अधिकार कर लिया और सहायक अंगों की अभिवृद्धि तथा विरोधी अंगों का वृत्ति-हरण होने लगा। इस उथल-पुथल में 'तन-मुलुक' में घटने-बढ़ने के कारण रकमें और से और हो गई—'स्तन, मन, नैन, नितम्ब' का तो 'बड़ा इजाफा' हुआ, परन्तु 'कटि' को एकदम घटाकर अस्तित्व-हीन ही बना दिया। बिहारी ने विदेशी शब्दों का प्रयोग किसी भाषा-नीति के कारण नहीं किया, प्रत्युत सौन्दर्य को अधिक मुखर बनाने के लिए ही वे कतिपय (एक प्रतिशत से भी कम) शब्दों को ग्रहण करने में संकोच नहीं करते।

दोहा संख्या ३४७ में देशी तथा विदेशी समानर्थक शब्दों का प्रयोग एक साथ युग्म-स्थापना के रूप में हुआ—'गहि गहि गरब गरूर'। 'गर्व' (संस्कृत) तथा 'गरूर' (अरबी-गुरूर) शब्द युग्म रूप में आये हैं, दोनों का एक ही अर्थ है। टीकाकार रत्नाकर का मत है कि 'भाषा में एक ही अथवा कुछ भिन्न अर्थ वाले दो शब्दों के साथ प्रयोग करने की प्रथा बहुत पुरानी है।—कभी-कभी ऐसे युग्मों में एक शब्द भारती भाषा का तथा दूसरा फारसी अथवा अरबी का होता है, जैसे राज-रियासत, धन-दौलत, बाजार-हाट, गली-कूचा, राम-रहीम, भाई-बिरादर, गए-गुजरे, हरबा-हथियार इत्यादि।' समस्या यह है कि ७१३ दोहों में से केवल एक ही दोहे में ऐसा प्रयोग क्यों है। हमारी समझ में 'गर्व' शब्द भारतीय चित्रकारों के लिए तथा 'गरूर' विदेशी चित्रकारों के लिए प्रयुक्त है। जब हम कहते हैं कि 'संसार से धर्म-ईमान उठ गया है, तो 'धर्म' शब्द के प्रयोग में हमारे समक्ष एक विशेष वर्ग है और 'ईमान' शब्द के प्रयोग में एक अन्य वर्ग। कोई भी युग्म पर्याप्त कारण के बिना प्रयुक्त नहीं होता। स्वयं बिहारी ने दोहा संख्या

---

१. अपने अंग के जानि कै, जोबन-नृपति प्रवीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब कौ, बड़ो इजाफा कीन ॥२॥

२. नव नागरि-तन-मुलुकु लहि, जोबन-आमिर-जोर।
घटि बढ़ि तें बढ़ि घटि रकम, करीं और की और ॥२२०॥

७१३ के दो वर्गों की स्त्रियों के एक ही भाव की अभिव्यक्ति के लिए दो भिन्न-भिन्न शब्द-समूहों का प्रयोग किया है। दोहे का उत्तरार्द्ध है—'पतिनु रति बाइर, चुरी, सें राची, अजगहि।' टीकाकार रत्नाकर ने इस दोहे पर टिप्पणी की है—'विधवा होने पर मुसलमानों की स्त्रियाँ बादर तथा हिन्दुओं की स्त्रियाँ चूड़ी उतार डालती हैं।'

दोहा संख्या ५३ में उत्तरार्द्ध में कवि ने लिखा है—'रोज सरोजनु कै परै, हँसी ससी की होइ'। 'रोज' शब्द को विदेशी मानकर उसपर टीका करते हुए रत्नाकर ने लिखा है—'रोज (फारसी रोज़)—दिन; उर्दू में रोज पड़ना एवं भाषा में दिन पड़ना विपत्ति तथा काठिन्य पड़ने के अर्थ में बोला जाता है। परन्तु खोज खोजकर बिहारी के शब्दों को विदेशी बनाना आवश्यक नहीं है। 'रोज' संज्ञा अर्थ है 'रोना', लोक-साहित्य में इस प्रकार के प्रयोग प्रचलित हैं, जैसे 'यह सुनिकै उसके घर रोआराट पड़ गया'; 'रोज' शब्द 'रोना' का ही नागर रूप है, जिसका संस्कृत रूप 'रुदन' होगा।

दोहा संख्या ३३६ में द्वितीय चरण में, 'घटतु दृग-दागु' तथा दोहा संख्या ५८७ में चतुर्थ चरण में 'लखि बैनी के दाग' प्रयोग देखने योग्य हैं। दागु 'ब्रज' भाषा में एकवचन का रूप हो सकता है और 'दाग' कर्मकारक में बहुवचन का रूप बन सकता है। 'दाग' विदेशी शब्द है। टीकाकार रत्नाकर ने ठीक ही टिप्पणी की है कि 'दृग-दागु' में 'दागु' विदेशी नहीं, देशी शब्द है—'दागु (दग्ध)—दाह'। श्मशान में शव को जलाने के लिए आज भी सूचित किया जाता है—'निगम-बोध घाट पर दस बजे दाग दिया जायगा' और नागर भाषा में कहेंगे—'निगम-बोध घाट पर दस बजे दाह-संस्कार होगा।'

बिहारी के जो दोहे काव्य-कला के कारण प्रसिद्ध माने जाते हैं, उनमें विदेशी शब्द प्रायः नहीं हैं और विदेशी काव्य रूढ़ियों, विदेशी अप्रस्तुतों आदि का उपयोग तो बिहारी ने अपनी कविता में किया ही नहीं, विदेशी साहित्य से बिहारी का परिचय था—ऐसा निष्कर्ष 'सतसई' के अध्ययन से नहीं निकाला जा सकता। सार यह है कि बिहारी की काव्यकला विदेशी शब्दों के प्रयोग से रूपवती नहीं बन सकी, विदेशी रंग उसके कपड़ों पर छिटका हुआ तो मिलता है, उसकी माँग में सिन्दूर बनकर भरा हुआ नहीं है। एक कारण कदाचित् यह हो कि उस समय विदेशी शब्द अभिजात अथवा नागर नहीं बन सके थे, उनमें हल्केपन का धँप लगा था, गौरव का ठोसपन नहीं था। उदाहरण के लिए उस युग में शराब, इश्क तथा दिलरुबा शब्द विदेशी प्रभाव से लांछित जीवन के अंग बन गये थे और हिन्दी के कवियों ने भी इन शब्दों को अपनाया था। बिहारी में नागर भावना थी, वे युग के भाव तो लेते हैं, परन्तु उनको व्यक्त करने के लिए हल्के शब्दों के स्थान पर अभिजात शब्दों का प्रयोग करते हैं। बिहारी-सतसई प्रेम काव्य है, परन्तु वह प्रेम 'इश्क' नहीं है; 'अनुराग' है, उसमें 'मनभावती' है, 'दिलरुबा' नहीं। शराब का वर्णन कई दोहों में है, परन्तु यह 'वारुणी' है, 'मदिरा' भी नहीं है।

बिहारी की नागरता उनकी भाषा को सस्ते विदेशी प्रभाव से अनायास ही बचा सकी है, वे जितने उदासीन ग्राम्य शब्दावली के प्रति है, उतना ही बचाव विदेशी शब्दावली से भी कर सके हैं। बिहारी की ब्रजभाषा टकसाली मानी जाती है, और वह टकसाल भारतीय है, विदेशी नहीं। बिहारी की शब्दावली पर विदेशी प्रभाव जितना भी (एक प्रतिशत से भी कम) पाया जाता है, वह काजल की लीक[1] मात्र है, जो काजल की कोठरी में रहने वाले उस कवि के सयानेपन को सूचित करता है, उसकी असावधानी का कलंक नहीं है।

१. काजर की कोठरी मे कितनों हू सयानो जाइ,
एक लीक काजर की लागि है, पै लागि है ।।

## १७ | घनानन्द का काव्य

यदि घनानन्द के ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर विचार न किया जाय तो उनके काव्य में उनके जीवन के दो रूप हैं, और क्योंकि उनमें कालक्रम का सम्बन्ध है इसलिए उनको पूर्वांश तथा उत्तरांश कहा जा सकता है। साहित्यिक जीवन के पूर्वांश में कवि किसी सांसारिक प्रेम में असफल होकर उसकी टीस से तड़पता बिलबिलाता हुआ करुण क्रन्दन कर रहा था, साहित्यिकों की दृष्टि में प्रेम की पीड़ा का यही काव्य घनानन्द को शृंगारी फुटकल कवियों का मुकुट-मणि सिद्ध कर देता है। 'सुजानहित' के ५७० छन्द इसी अन्तर्मुखी व्याकुलता के संतप्त उद्गार हैं। उत्तरांश में कवि दार्शनिक बन गया, उसने सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली, और विरह की कटुता को गले से नीचे उतारकर उसे सार्वभौम रूप में देखने लगा, 'कृपाकन्द' 'वियोग-बेलि', 'इश्कलता', 'प्रेमपत्रिका', 'ब्रजप्रसाद' आदि की रचना इसी जीवन में हुई, फुटकल पद भी इसी परिस्थिति में रचे गये होंगे। यह कहना कठिन है कि यदि घनानन्द केवल उत्तरांश की ही कविता लिखते तो साहित्य में उनको वह स्थान मिलता या नहीं जो पूर्वांश की कविता से सहज ही मिल गया है।

विरह के दारुण आघात से जर्जर कलेजे को थामे हुए घनानन्द जब जीवन से भाग खड़े हुए तो इनके मन में अतीत स्मृतियों का संचित तनिक-सा पाथेय मात्र ही अवशिष्ट था। वे प्रेमपात्र की क्रूरता पर आँसू बहाते, गर्म साँसें लेते और किसी निष्फल आशा के सहारे उसे पिघलाने का प्रयत्न करते। अन्त में एक ओर उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया और वे प्रेम को नाशवान समझने लगे, दूसरी ओर गुरु का उपदेश मिला कि वास्तविक प्रेम तो उस श्याम सलोने से होना चाहिए जिसके रूप पर अनेक गोपियाँ ही नहीं प्रत्युत कोटि काम-देव भी निछावर हैं और जिसमें रूप के साथ रिझानेवाले गुण भी हैं। यहीं घना-नन्द के व्यक्तित्व में भारतीय और अभारतीय तत्वों का मिश्रण हो गया है। भारतीय साधक, यह तो सम्भव है कि, संसार से अतृप्ति के कारण उस अनन्त राशि के निकट जाय, परन्तु जब उधर चला गया फिर उसके मन में संसार की

वासनात्मक गन्ध नहीं रह सकती, वह तो उस चकाचौंध में अपना नया जन्म देखकर स्वयं को भी भूल जाता है। इसके विपरीत सूफी साधक जब मजाजी से निराश होकर हकीकी प्रेम की चर्चा करने लगता है तब भी उसके मन से मजाजी रूप लुप्त नहीं हो जाता—उसे प्रतिक्षण हकीकी के लिए मजाजी का ही आश्रय लेना पड़ता है। अस्तु, घनानन्द के उत्तर जीवन में भी 'दिलपसन्द दिलदार यार' कायम ही रहा, यद्यपि उसका एकीकरण 'हलधर दे वीर' या महबूब नन्द दे' के साथ हो गया लगता है। वस्तुतः जब कवि "दिलपसन्द दिलदार यार तू मुजनूँ की तरसान्दा है" कहता है तो साथ ही "मैंनूँ ध्यान आन नहिं जानी तू घन-कुंज-बिहारी है" भी लिख देता है, या 'तेंडे मुख पर तिल अबे अति खून करन्दा' कहकर उसे 'चन्दा गोविन्द सुनंद दे घन आनंद-कन्दा' लिखने की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है। उत्तर जीवन की ये कवितायें कवि को शुद्ध भारतीय परम्परा में नहीं बैठने देतीं।

घनानन्द के पूर्व-काव्य को, सुविधा के लिए, प्रेम-काव्य और उत्तर-काव्य को दीक्षा-काव्य कहा जा सकता है। साहित्य की दृष्टि से प्रेम-काव्य का मूल्य इतना अधिक है कि उत्तर-दीक्षा-काव्य अनिवार्यतः आलोचक का ध्यान आकृष्ट नहीं करता। इस प्रेम-काव्य की मुख्य विशेषता एकांगिता है, जिसके दो रूप उपलब्ध हैं। एक तो गीत-गोविन्दकार जयदेव के समान घनानन्द का प्रेम निभृत है, उसमें संसार या समाज न बाधक है और न साधक, प्रेमी और प्रेम-पात्र दो से ही दुनिया आबाद है, न परिजन-पुरजन है, न दूती-सखी, इसलिए न चवाव है और न सहायता। जयदेव ने संयोग शृंगार का भी वर्णन किया था और प्रेम का प्रारम्भ भी दिखाया था इसलिए उनको सहचरी की पार्टटाइम सहायता लेनी पड़ी, परन्तु घनानन्द की कविता वियोग से ही जन्मती है, अतः उस निर्दय एकान्त तड़पन में किसी सदय उपचारकर्त्ता की आवश्यकता नहीं। घनानन्द का यह काव्य शुद्ध वेदना का ही उद्‌गार है। तीसरे की अनुपस्थिति ने चीत्कार को अनावृत्त कर दिया और मुख से शिकायत के स्थान पर भी कराह निकलने लगी। एकांगिता का दूसरा रूप इस काव्य की सूर-काव्य से तुलना करने पर स्पष्ट हो सकेगा। सूर अपने 'संसारी' जीवन से विरक्त होकर जब भगवद्-भजन में आ गये तब भी उनकी वाणी में पिछले जीवन की छाप लगी रही, और मुगल-शासन की शब्दावली में वे अपने उद्‌गारों को प्रकट करते रहे। घनानन्द का शासन के साथ सूर को अपेक्षा अधिक एवं निश्चित सम्बन्ध था, फिर भी उनके काव्य में उसकी अधिक छाप नहीं मिलती। ऐसा लगता है कि विरहविह्वल घनानन्द अपने पिछले जीवन को बिलकुल भूल गये, और उनके शरीर में विरह के सबल आघात से नये व्यक्तित्व का उदय हो गया; शारीरिक या मानसिक आघातों से व्यक्तित्व में विकार या इस प्रकार का आमूल परिवर्तन सम्भव है। एकांगिता, प्रेम की तरंगों में बहनेवाले कवियों का स्वाभाविक गुण है; घनानन्द का काव्य इस गुण के कारण महार्घ बन गया है—विरह का वह आघात बड़ा

सित वर्णन क्यों करने लगे—यह विचारणीय है। यदि इस वर्णन को किसी अन्य नायिका का माना जाय तो घनानन्द के प्रति अन्याय होगा क्योंकि फिर उनका प्रेम अनन्य[1] न रह सकेगा—यह समस्त काव्य व्यक्तिगत जो है। अतः इस वर्णन को अभीष्ट नायिका के विषय में कल्पना से उद्भूत समझना चाहिए।

ऊपर कहा जा चुका है कि घनानन्द के काव्य का प्राण व्यक्तिगत अनुभूति तथा सहज उद्गार हैं। बोधा, ठाकुर आदि भी इसी प्रकार के थे। इन्होंने किसी साहित्यिक प्रेरणा से काव्य-रचना नहीं की, प्रत्युत इनका हृदय वैयक्तिक वेदना को सहन न कर सकने के कारण काव्य में प्रस्फुटित हो गया। इस वर्ग के कवियों की सामान्य विशेषताएँ एकपक्षीय प्रेम तथा व्यक्तिगत वेदना की अभिव्यक्ति ही है; साथ ही स्थायी विरह, क्वचित् आशा और प्रायः क्षोभ, दैन्य तथा अनुनय भी ध्यान देने योग्य हैं। यह कहा जा चुका है कि घनानन्द ने अपने स्थायी विरह को काल्पनिक संयोग और संभोग से सह्य बनाने का प्रयत्न किया है. रति के उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। कवि ने इन कल्पनाओं को 'अभिलापनि-प्यार' (सुजान-हित, १३) नाम दिया है और इनका विस्तार 'रस-आरस' (सुजान-हित, १७), 'सौति' (वही, १६), 'उत्कण्ठा' (वही,२३), 'प्रतीक्षा' (वही २७), 'हँसनि-ससनि' (वही २८), 'रति-रंग' (वही, २६), 'रस की तरंग' (वही, ३२), 'आलिंगन' (वही, ३६), 'बैस की निकाई' (वही, ५६), 'रूप-मद' (वही ८१), 'चाह चुरीनि' (वही, ११५), 'नवल सनेह' (वही, १५८) आदि अनेक रूपों तक किया है। शायद इन अभिलाषाओं[2] में आशा के बीज झलकते हों, क्योंकि कई बार 'आगम-उमाह-चाह' (७७) से उसका मन कुछ उल्लसित-सा लगता है और वे ऐसा सोचते हैं कि अपनी रीति को निबाहने के लिए मिलन अवश्य होगा—

कै बिपरीति मिलौ घनआनन्द या बिधि आपनी रीति निबाहौं।

(सुजान-हित, ८६)

आनन्द के घन प्रीति-साकौ न बिगारियें। (वही, १२४)

वस्तुतः यह आशा, दैन्य और अनुनय का ही प्रासंगिक परिणाम है। शायद ही किसी दूसरे प्रेमी ने इतना दीन बनकर अपने प्रेमपात्र को मनाया हो, चाहे उसके प्रेम में कचाई थी, चाहे वह बिल्कुल निराश हो चुका था। 'आपको न चाहे, ताके बाप को चाहिए' कहने वालों को छोड़ दीजिये, हिन्दी का दूसरा ऐसा कौन-सा कवि है जिसने हा-हा खाकर अपना मुख सुखा दिया या पैरों पड़कर माथा घिस दिया हो, परन्तु घनानन्द ऐसा प्रायः करते हैं जो उनकी दीनदशा का

---

१. पाल्यो प्यार को तिहारो, तुमही मोकें निहारो,
हाहा जनि टारो याहि, हारो दूसरो न है।
(सुजान-हित, ७१)

२. भरि अंक निसंक ह्वै भेटन कों अभिलाष-अनेक भरी छतियाँ।४२८।

फल है और उनके प्रेम का मारक भी है —

> मो मैं प्रान वारौं टूक टूक थारौ सो निवारौ,
> हा-हा घनआनन्द निहारौ दीन की दसौ। (सुजान-हित, ६०)
> हित-आगनि करे मिल वाहर मैं मिल पारनि ऊपर लोग धमौं।
> (वहीं, ११०)

जिस गौरव से भक्त कवि भगवान् के सामने अपने को दीन बताकर अपने दैन्य का वर्णन करते हैं वही स्थिति घनानन्द में है। मोह-त्याग का वास्तविक त्याग तो नहीं हुआ था, अतः प्रेमी तो, लगता है, घूँट पीया करते थे। यह दैन्य मोह-संग्रह की दृष्टि से पराजित हो परन्तु घोर वेदना का सूचक है। भगवान् के सम्मुख दीन बनने से आत्मा निस्तेज नहीं होती परन्तु किसी व्यक्ति के समक्ष इस सीढ़ी तक उतर आने से ज्योति धूमिल-सी जाती है। अतः नितान्त असह्य वेदना के बिना, सिर पटकने के समान, इस दैन्य की दशा सम्भव नहीं, इसमें स्वाभिमान चूर-चूर हो जाता है और पीड़ा शान्त नहीं होती। घनानन्द के काव्य में भाव पक्ष का आकर्षण यही पीड़ा है जो असमान्य मनोदशा से उद्भूत होने के कारण पाठक को ग्रहण कर लेती है।

और हुआ भी यही। घनानन्द ने अपने हृदय को टूक-टूक[1] कर दिया, परन्तु उनके प्रेम-पात्र ने उनको पढ़ने की कभी परवाह नहीं की; वे उजड़[2] गये, परन्तु भावते[3] कहीं और ही बसे रहे, इनके हृदय में आग[4] लग गई, होली[5] जलने लगी, वे खुश हैं। स्वाभाविक भी है। जब घनानन्द नितान्त एकपक्षीय आकर्षण को ही प्रेम समझने लगे तो उनका और क्या परिपाक हो सकता था। सुन्दर व्यक्ति पर प्राण देने वाले तो अनेकों व्यक्ति हो सकते हैं, वह बेचारा किस-किस पर दया करके उनके मन को शान्त करेगा ? इसलिए एकपक्षीय आकर्षण सर्वथा लम्पटता है, प्रेम नहीं; प्रेम हृदय का वह आकर्षण है जो उभय पक्ष में सम हो—अनुराग मात्रा में तुल्य नहीं हो सकता, परन्तु दोनों पक्षों में अस्तित्व अवश्य तुल्य होना चाहिये। घनानन्द को अब मालूम हुआ कि उनका प्रेम-पात्र तो निष्ठुर और निर्मोही है, उस जैसा विश्वासघाती कोई दूसरा नहीं हो सकता—

> एक बिसास की टेक गहाय कहा बस जौ उर और हो ठानो।६।
> रस प्याय के ज्याय बढ़ाय के आस बिसास में यों विष घोरियै जु।३६।

---

१. ऐसो हियो-हित-पत्र पवित्र जु आन कथा न कहूँ अवरेख्यौ।
सो घनआनन्द जान अजान लौं टूक कियौ परि बाँचि न देख्यौ। (वही, २८२)

२. रावरी बसाय तो बसाय न उजारियै। (वही, २१८)

३. उजरनि बसी है हमारी अँखियानि देखौ,
सुबस सुदेस जहाँ भावते बसत हौ। (वही, २१७)

४. आँच लागै। (वही, २०६)
होरी-सी हमारे हियेँ लागियै रहति है। (वही, २१६)

अधिक बधिक तें सुजान रीति रावरी है···।२४४।
परतीति दै कीनी अनीति महा विष दीनी दिखाय मिठास-डरी।
इत काहू सों मेल रह्यो न कछू, उत खेल-सी ह्वै सब बात टरी।२४६।
तुम्हें पाय अजू हम खोयो सबै हमै खोय कहो तुम पायो कहा।३२२।

इस एक पक्षीय आकर्षण का अवसान संसार के प्रति अश्रद्धा में हुआ। प्रेम कभी नहीं करना चाहिए, इसमे आनन्द कम और विपत्ति अधिक है; जो भाग्य में लिखा होता है वही मिलता है; उसने दु.ख दिया और सुख पाया परन्तु हमने अपना चित्त सौंप दिया फिर भी चिन्ता पल्ले पड़ी; हमारा जीवन व्यर्थ है; ईश्वर मनुष्य को चाहे जो कष्ट दे परन्तु किसी निर्मोही से उसका प्रेम न करावे। इस प्रकार के उद्‌गार प्रेम की अवसिति मे व्यक्त किए गये हैं—

(१) देह दहै न रहै सुधि गेह की, भूलि हू नेह को नाँव न लीजै।३७।
(२) गुन बँधै, कुल छूटै, आयो दै उदेग लूटै,
    उत जुरै, इत टूटै, आनन्द विपत्ति है ॥५१॥
(३) कौन कौन बात को परेखो उर आनिये हो,
    जान प्यारे कैसें विधि-अंक टारियत है ॥१२६॥
(४) दुख दै सुख पावत हो तुम तो, चित्त के अरपे हम चित लही ॥१३१॥
(५) है घन आनन्द सोच महा मरिबो अनमीच बिना जिय जीबो ॥१४८॥
(६) दिनन को फेर मोहि, तुम मन फेरि डारयो ॥२२४॥
(७) प्रान मरैंगे, भरैंगे बिथा, पै अमोही सों काहूको मोह न लागौ ॥२८४॥

निराशा के ये वाक्य हृदय की जर्जरता के द्योतक हैं। झूठी आशा, निराधार विश्वास, यथासम्भव प्रयत्न और दयनीय दैन्य के अनन्तर असफलता से पुरस्कृत होने पर हृदय में क्षोभ, अश्रद्धा और भाग्यवाद के इन भावों का आ जाना स्वाभाविक ही है। घनानन्द में इसकी सख्या अपार है और इनका आकर्षण भी निर्विवाद है—

जरौं बिरहागिनि मैं करौं हौं पुकार कासौं
        दई गयो तू हू निरदई और दरि रे।२६५।
हाय दई यह कौन भई गति प्रीति मिटे हू मिटै न परेखौ।३०४।
जब आय हो औसर जानि सुजान बहोर लौं बैस तो जाति लखौ।३४६।
तुम ही तिहि लालि सुनौ घनआनन्द प्यार निगोड़े को और बुरी।३८४।
यह तो सुधि भूलि गयो बिछुरैं कबहूँ सुधि भूलि न भौन लई।४६२।
एक आस बसे सदा बालम बिसासी, पै न
        भई क्यों बिन्हारि कहूँ हमैं तुम्हैं हाय हाय।४६८।

इस हाय-हाय में जो करुणा है वह क्षोभ का परिहास करने वालों को भी पिघला सकती है। यदि निष्ठुर प्रेम-पात्र भी इसको सुन लेता तो वह भी दयाद्रं

हो जाता । भाग्यवादी होते-होते घनानन्द अपनी असफलता को दैव की इच्छा समझने लगे; यहीं से उनको सम्प्रदाय में दीक्षा प्रारम्भ होती है—

> दौरि दौरि थाक्यो पै थके न जड़ दौरनि तें,
> गति भूलें मन की न दुरी कछू तोतें रे।
> तातें ठौर दीजें याहि, सुधि लीजें मोहघन
> बूझियें न बिड़रयो घनाय तोहि होतें रे ॥
> हाय हाय रे अमोही हारि के कहत हा हा,
> भाय बनी अब ह्वै है वही रची जो तें रे।
> आस-बिसवास दै असाधन हू साधि सै न,
> साधन कृपा है और कहा सधै मोतें रे ॥
> (कृपानन्द, ६२)

इस दीक्षा से पूर्व घनानन्द के प्रेम पर कुछ और विचार कर लेना चाहिये । यह कहा जा चुका है कि वे प्रेम को कोसते हुए अपनी खीझ प्रकट कर रहे थे । प्रेम बुरा होता है, इसमें न्याय नहीं है इसमें निर्दयी जीत जाता है, दीन मारा जाता है आदि उद्‌गार शृंगार काल की अपनी विशेषता और तत्कालीन जीवन की असारता के द्योतक हैं । इनका उद्‌गम प्रेमपात्र को निष्ठुर, बधिक आदि विशेषताओं से सम्बोधित करने में है । परन्तु पीछे घनानन्द को पता लगा कि प्रेम तो वास्तविक और सत्य है, जो निष्ठुर है वह प्रेम के स्पर्श से शून्य होने के कारण; प्रेम को उसके कारण बुरा नहीं कहा जा सकता, वह बुरा है क्योंकि वह प्रेम के मर्म को नहीं जानता । प्रेम का निर्वाह सामान्य व्यक्ति का काम भी नहीं है, इसके लिए तो हृदय अत्यन्त शुद्ध, पवित्र, सरल एवं निष्कपट होना चाहिए, हमने यह भूल की कि अयोग्य व्यक्ति को ऐसी अमूल्य वस्तु का अधिकारी समझते रहे । घनानन्द के ये विचार उद्वेगजनित नही हैं, इनमें प्रेम से भागने की प्रवृत्ति नहीं प्रत्युत उसको आत्मसात् कर लेने का भाव है—

(क) अति सूधो सनेह को मारग है जहां नेकु सयानप बांक नहीं ।
तहां सांचे चलें तजि आपुनपौ झझकें कपटी जे निसांक नहीं ।
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ इत एक तें दूसरो आंक नहीं ।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटांक नहीं ॥२६७॥

(ख) प्रेम नेम हित चतुरई, जे न बिचारत नेकु मन ।
सपनेहूं न बिलंबियें, छिन तिन ढिग आनन्दघन ॥ २८५॥

प्रेम एक सामान्य भाव नहीं रहा, प्रत्युत 'प्रेम-पन्थ' बन 'जानराय' का प्रेम है, जिसको "रंगीली प्रीति" कहा

१. ... प्रीति सुरस पागौगे । (कृपानन्द)

जाता है। इसमें वियोग ग्रौर संयोग[1] दोनों ही एकरस हैं चण्डीदास की साधना के समान हो। उदाहरण देखिये—

(क) जल-थल-व्यापी सदा ग्रंतरजामी उदार,
जगत में नावँ जानराय रह्यौ परि रे ॥२६५॥

(ख) ज्ञान हूँ तें ग्रागे जाकी पदवी परम ऊँची,
रस उपजावै तामैं भोगी भोग जात ग्वै।
जान घनग्रानन्द ग्रनोखो यह प्रेम-पन्थ,
भूले ते चलत रहैं सुधि के थकित ह्वै ।२६६॥

ग्रालोचकों ने माना है कि घनानन्द की कविता 'जग की कविताई'[2] से बहुत ऊँची है, इसको वही समझ सकता है जिसके हृदय-नेत्र में स्नेह रंजित[3] हो। कदाचित् इसलिए कवि ने यह घोषणा की थी कि दूसरे लोग लगकर सायास[4] कविता करते हैं, परन्तु मेरी कविता नैसर्गिक है ग्रौर इसीलिए मुझे उच्च स्थान प्रदान कर देती है। इस कविता की मधुरता पर रसिक ग्रौर साहित्यिकार दोनों रीझ चुके हैं। हमने ऊपर बताया था कि इस रीझ का मुख्य ग्राधार तो उस काव्य की वैयक्तिता है, यह इतना एकांगी है कि ग्रनुभव-जन्य यथार्थ वेदना को सहज शक्ति से ग्रभिव्यक्त करके ही पाठक को वशीभूत कर लेता है; रीतिबद्ध एव बिहारी ग्रादि की ग्रपेक्षा व्यक्तिगत वेदना को स्वतन्त्र रूप से शब्दबद्ध करने वाले सभी कवि ग्रधिक हृदयस्पर्शी लगते हैं। घनानन्द के सौन्दर्य में इस ग्रनावृत करण को प्रथम स्थान मिलना चाहिए। दूसरा स्थान शैली-गत चमत्कार का है। घनानन्द को संसार का कुछ ग्रनुभव प्राप्त था, यद्यपि इन्होंने उस समस्त का उपयोग नहीं किया, परन्तु उसमें से किंचिदंश को ग्रप्रस्तुत सामग्री के रूप में स्थान दिया है। यह दुहराना ग्रावश्यक है कि घनानन्द ने इतनी कम ग्रप्रस्तुत सामग्री का उपयोग है कि उसके ग्राधार पर निकाले गये निष्कर्ष निर्भ्रान्त नहीं रह सकते; इस सीमा पर हम ऊपर विचार कर चुके है। ग्रस्तु, यह यत्किञ्चित् सामग्री उस जीवन से ग्राई है जो पाठक का सुपरिचित, परन्तु साहित्य मे सुप्रचलित नहीं है। फिर भी इस सामग्री की तुलना कबीर की सामग्री से नहीं हो सकती। कबीर का समाज उन पिछड़े हुए लोगों का था जो चाकी-चूल्हे या शिश्नोदर की चर्चा में ही गद्‌गद् रहते हैं इसलिए उनके गुरु कबीरदास उपदेशो में उसी ग्रप्रस्तुत सामग्री को रख सके। इसके विपरीत घनानन्द का समाज बुद्धि-वैभव

---

१. चाह के रंग मे भीज्यो हियो बिछुरे मिलैं प्रीतम सान्ति न मानै ॥
२. जग की कविताई के धोखे रहैं, ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।
(प्रकरित)
३. समझै कविता घनग्रानन्द की हिये-ग्राँखिन नेह की पीर तकी। (वही)
४. लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत ॥२२८॥
(सुजान-हित)

ऐसा ही उपन है जिसके गिरते ही सुख रूपी पक्षी तुरन्त उड़ जाते हैं। अंग्रेजी में 'हीयर' और 'लिसिन' दो शब्द हैं परन्तु हिन्दी में 'सुनना' और 'ध्यान से सुनना' होता है; एक व्यक्ति सुनता है फिर भी नहीं सुनता, तब कहा जाता है कि क्या आपके कान में रुई लगी है; प्रायः टालमटूल करनेवाले व्यक्ति सुनकर भी अन-सुनी कर देता है—इसी को 'बहराना' कहते हैं; घनानन्द ने बहराने को ही कान की रुई माना है। प्रतीक्षाकुल विरही को एक ही अफसोस है कि आयु सीमित परन्तु प्रतीक्षा निरवधि है, न जाने कब बनिजारा अपना टाँड लाद करके चल देगा और तब मन की एकमात्र अतृप्त अभिलाषा मन में ही रह जायगी। सूर की गोपी ने अन्त में प्रियतम के पास एक ही सन्देश भेजा था—'ना जाने कब छूट जायगो प्रान, रहै जिय साधौ'। घनानन्द भी अपने प्रेमपात्र को छीजती हुई वयस का ध्यान दिलाते हैं।

इस अप्रस्तुत योजना के उदाहरण असंख्य नहीं है, परन्तु दोष अनेक हैं, जिनके आधार पर कवि के जीवन और उन-उन क्षेत्रों के नैकट्य की सम्भावना नहीं की जा सकती। परन्तु ध्यान देना होगा कि इस योजना में रूपाकार का कोई *सादृश्य नहीं दृष्टिगत होता, केवल गुण-साम्य है वह भी विद्यमान गुण के* आधार पर नहीं, प्रत्युत क्रियावसिति या फल को ध्यान में रखकर। प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक मूर्त है तो दूसरा प्रायः अमूर्त. कहीं मानवीकरण है, तो कहीं श्लेष का आधार। जीव और पतंग, अन्तराय और पट, पक्षी और सुख, वियोग और पत्थर, कपास और बहिराना, तथा बहीर और वयस के अप्रस्तुत-प्रस्तुत-भाव अनेक प्रगतिशील कवियों के लिए भी अनुकरणीय हैं। जब आँखें लंघन करती हैं, या हड़ताल कर देती है तो उनके ये व्यापार उस समय के समाज का कुछ संकेत देने के साथ-साथ नेत्रों को व्यक्तित्व भी तो प्रदान करते हैं। उत्तर के चरणों में मेंहदी लगने से पूर्व उत्तर को एक व्यक्ति बनना पड़ेगा, तरुण या तरुणी। अप्रस्तुतों के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि ये उच्छृंखल प्रयोग न होकर अर्थ-विशेष की व्यंजना के लिए प्रयुक्त हुए हैं। जीव को पतंग मानते ही बिहारी का वह दोहा याद आ जाता है जिसमें 'उड़ी जाति कितऊ गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ' कहा गया है—पतंग का नाच तो उस पर निर्भर है जिसके हाथ में उसकी रस्सी है। उत्तर के चरणों में मेंहदी लगने से उत्तर के आश्रय निष्ठुर प्रिय के अंग-अंग पर अंगराग लग गया, जो उसको सुन्दर एवं सुकुमार के साथ-साथ मानवान् भी सिद्ध कर देता है—ऐसी है अदा उनकी। वियोग और ढेल में कितना साम्य है, दोनों कूटनेवाले, शोषक तथा असेवनीय हैं। कान में रुई देना अपने आप में स्वयं छिपाना या बहिराना है—*हम सुनकर भी नहीं सुनते, यह* सूक्ष्म प्रयत्न है, और कान में रुई लगा लेते हैं, यह स्थूल प्रयत्न है। घनानन्द की यह प्रस्तुत-योजना वस्तुतः सहज अतः सराहनीय है।

घनानन्द की अप्रस्तुत योजना श्लेष और विरोध के कंधों पर हाथ रखकर उचक रही है, इसलिए वह जितनी है उससे अधिक ऊँची दिखाई पड़ती है। ऊपर

में प्रौढ़ था और उसका प्रसार बहुमुखी था, अतः कवि ने अनेक क्षेत्रों से उप
सामग्री का सहज चयन किया है, यह परम्परागत नहीं मौलिक है, सायास नहीं
सहज है। घनानन्द की यही विशेषता है कि कम-से-कम सामग्री से अधिक
अधिक लाभ उन्होंने उठाया है; उनका चुनाव अत्यन्त मार्मिक तथा उपयुक्त
ऐसा लगता है कि यह सामग्री भी उतनी सहज है जितनी कि अनुभूत
की अभिव्यक्ति। उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो सकेगा—

(क) विरह-समीर की झकोरनि अधीर, नेह-
नीर भीज्यौ जीव तऊ गुड़ी लौं उड़्यौ रहै

(ख) घेर्‌यौ घट आय अन्तराय-पटनि-पट पै,

प्रदान में है। मन लेकर छटांक भी न लौटाना बेईमानी है, परन्तु 'मन' का श्लिष्टार्थ तथा 'छटांक' का छटा—भांक अर्थ निकलने से पाठक चमत्कृत हो उठता है। यद्यपि इस प्रकार के कतिपय चमत्कार सहज नहीं माने जा सकते, फिर भी उनके सौन्दर्य को श्रम-साध्य भी नहीं घोषित किया जा सकता। ये चमत्कार घनानन्द की 'कविताई' का प्राण है।

---

# १८ प्राचीन हिंदी-साहित्य के अनुसन्धान की समस्याएँ

हिन्दी-साहित्य में अनुसन्धान का कार्य स्वातन्त्र्योत्तर युग में अधिक गति से हो रहा है; और अनुसन्धान की जितनी प्रगति है उतनी व्यवस्था नहीं। फलतः अनुसन्धाता के सम्मुख बहुविध समस्याएँ आ जाती हैं; ऐसी समस्याएँ जो व्यक्ति, परिस्थिति, समय, शिक्षा, संस्थान आदि से सम्बद्ध हैं। प्रस्तुत निबन्ध में मेरा प्रयत्न केवल सामान्य समस्याओं तक सीमित रहने का है। सामान्यतः इन समस्याओं का समाहार तीन चरणों में हो सकता है। ये तीन चरण हैं—सामग्री का संचय, सामग्री की सुपाठ्यता तथा सामग्री की व्याख्या। इसी क्रम से इन पर विचार करना अधिक समीचीन होगा।

## सामग्री का संचय

दशम शताब्दी के आसपास, पुनरुत्थान के फलस्वरूप, भारतीय जीवन में एक क्रान्ति आई जिसने भाषा एवं साहित्य को भी एक नवीन गति प्रदान की। देववाणी के स्थान पर, उसके समान व्यापक बनकर, प्राकृतों के भग्नावशेषों एवं अपभ्रंशों के सहयोग से, अधिकतर आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म हुआ। इन भाषाओं के एक व्यापक एवं परिष्कृत रूप को विदेशियों ने 'हिन्दी' नाम दे दिया। लाहौर (चन्द बरदाई के जन्म स्थान) से हैदराबाद ('दक्खिनी' की जन्मभूमि) और नेपाल ('बौद्धगान ओ दोहा' के प्राप्तिस्थान) से द्वारका (मीरा-बाई की साधना-भूमि) तक इस भाषा का प्रसार लगभग एक सहस्र वर्षों से चला आ रहा है। और हिन्दी भाषा एवं साहित्य के अनुसन्धान की एक प्रमुख समस्या यही व्यापकता है। सहस्रों वर्गमील के इस भूभाग में हिन्दी की अनन्त सामग्री बिखरी पड़ी है, जिसका उद्धार आज हमारा प्रथम कर्त्तव्य है। इस सामग्री के प्राप्तिस्थान तीन हैं---राजकीय पुस्तकालय, मठ-मन्दिर तथा व्यक्ति-विशेष।

स्वातन्त्र्य से पूर्व देशी रियासतों की समृद्धि के परम्परागत चिह्न, राज-के पुस्तकालय, केवल उल्लेखनीय स्थान थे, उन तक पहुँचना सर्वसाधारण ।, विद्वानों के लिए भी सम्भव न था। श्रीनगर, पटियाला, भरतपुर, जयपुर,

जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, बूंदी, रामपुर, हैदराबाद न जाने कितने प्रसिद्ध स्थान इस सम्बन्ध में गिनाये जा सकते हैं। इनमें से अधिकतर आज भी अस्पृश्य बने हुए हैं। पिछले कुछ दिनों में पटियाला के राजकीय पुस्तकालय से गुरुमुखी तथा नागरी लिपियों में लिखित ब्रजभाषा की इतनी रचनाओं तक शोधार्थी पहुँच सके हैं कि दो शोध-प्रबन्ध केवल उस सामग्री का परिचय देने के लिए ही लिखे गए हैं; 'रसिक गोविन्द आनन्द-घन' जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ, जिसका उल्लेख साहित्य के इतिहास में है, चिरकाल तक अप्राप्य रहने के अनन्तर, इसी पुस्तकालय की छानबीन का परिणाम बनकर अब प्रकाशित होकर पाठकों के सामने आ रहा है। यदि आगामी पीढ़ी के शोधार्थी केवल इन राजकीय पुस्तकालयों में मूर्छित सामग्री को जगाने में लग जायें तो हिन्दी-साहित्य के इतिहास का रूप ही बदल सकता है।

दूसरा प्राप्ति-स्थान मठ-मन्दिर हैं। धर्मस्थानों के साथ सारस्वत भाण्डार का कितना घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, यह सर्वविदित है और इसे भी सब जानते हैं कि मन्दिरों के ध्वंस के साथ हमारी अनन्त साहित्य-राशि नष्ट हो चुकी है। आज भी देश के कोने कोने में बहुत से ग्रन्थ धर्मस्थानों में छिपे पड़े हैं। पिछले दिनों 'गोसाईं गुरुवाणी' के छपने से ज्ञात हुआ कि पंजाब के गोसाईं सम्प्रदाय का हिन्दी-काव्य परिमाण में सिख सम्प्रदाय के मुख्य हिन्दी-काव्य से कम नहीं है। इसी प्रकार राधावल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य पर जब एक महत्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध प्रकाश में आया तब विद्वानों को ज्ञान हो सका कि राधावल्लभीय कृष्ण-साहित्य पुष्टिमार्गी कृष्ण-साहित्य से मात्रा में कुछ कम हो सकता है, मूल्य में नहीं। जिन विद्वानों ने साहित्य-सम्प्राप्ति के निमित्त साम्प्रदायिक केन्द्रों का परि-भ्रमण किया है उनका अनुभव है कि सम्प्रदाय के अधिकारी उस सामग्री को हाथ नहीं लगाने देते। उनको यह आशंका है कि यदि कोई सम्प्रदाय-बाह्य व्यक्ति उन पोथियों की उलट-पुलट करेगा तो उसे सम्प्रदाय के दोष दिखलाई पड़ेंगे और जो कुछ वह लिखेगा उसमें सम्प्रदाय की निन्दा होगी जिससे अनुयायी बहक सकते हैं और धीरे-धीरे सम्प्रदाय नीचे खिसक कर धराशायी हो सकता है। ये लोग सम्प्रदाय में दीक्षा के बिना पुस्तक-भंडार में प्रवेश की अनुमति नहीं देते; 'गुरु बिन होइ न ज्ञान'—इस सिद्धान्त को ये मठाधीश लोग आज के साहित्य-शोधा-र्थियों पर भी अक्षरशः लागू करना चाहते हैं। मैं ऐसे व्यक्तियों को जानता हूँ जो केवल शोध के निमित्त ही मन्त्र लेकर दीक्षित होने को बाध्य हुए। मुझे इस सम्बन्ध में कोई मार्ग नहीं सूझता कि स्वयं को और अधिकारियों को धोखा दिये बिना—दीक्षा को स्पष्ट रूप में अस्वीकार करके—साहित्य का अनुसन्धाता इन सहस्रों ग्रन्थों को किस प्रकार प्रकाश में ला सकता है। उसे मेल-जोल, छल-कपट, बल-कौशल से काम लेना चाहिए—ऐसा ही सामान्य सिद्धान्त सुझाया जा सकता है।

व्यक्ति-विशेष के अधिकार में जो सामग्री बँधी पड़ी है उसके भी हम

सबको कटु अनुभव हुए होंगे। हिन्दी के क्षेत्र का विस्तार यहाँ सबसे अधिक परिश्रम की अपेक्षा रखता है। सहस्रों वर्गमील के इस भूभाग में कम से कम एक लाख व्यक्ति तो ऐसे होंगे ही जिनके पास साहित्यिक पुस्तकें बस्तों में बँधी पड़ी हैं। पिछले दिनों कश्मीर की प्रसिद्ध साधिका लल्लेश्वरी पर जब शोध कार्य हो रहा था तो मुझे पता लगा कि धूलि छानने से भयभीत होकर अनुसन्धाता लल्लेश्वरी पर कार्य नहीं कर सका है। इसी प्रकार एक दूसरे कश्मीरी साधक परमानन्द के विषय में भी निष्कर्ष निकालना पड़ा। जिन व्यक्तियों के पास ऐसी सामग्री है उनके दो वर्ग हैं—(१) वे, जो इन पोथियों से कोई विनिमय न पाकर इनको पसेरी के हिसाब से रद्दी में बेचते रहे हैं और (२) वे, जो पोथी के प्रत्येक पृष्ठ को अमूल्य मान कर उसको नोटों के समान भुनाना चाहते हैं। धीरे-धीरे मेरा ऐसा विश्वास बनता जा रहा है कि देश के प्रत्येक प्राचीन ग्राम में कोई न कोई घर ऐसा अवश्य होना चाहिए जिसमें एक-दो बस्ते बचे रह गये हों। सरकारी कानून भी बन सकता है कि ऐसी समस्त सामग्री राष्ट्र की सम्पत्ति है। परन्तु मैं समझाकर-बुझाकर कार्य करने के पक्ष में हूँ। हम उन सज्जनों से मिलें और उनको यह समझावें कि उनके साहित्यानुरागी पूर्वजों ने जो हस्त-लिखित पुस्तकों का संचय किया है उसको प्रकाश में लाकर वे पितृऋण से मुक्त हो सकते हैं और उनकी उदारता को प्रकाशित पुस्तक की भूमिका में स्वीकार भी करना चाहिए। इस प्रकार यदि हम उक्त तीनों प्राप्ति-स्थानों से सम्प्राप्य सामग्री के संचय में लग जायँ तो अनुसन्धान को अभूतपूर्व सफलता मिल सकती है। प्रत्येक क्षण हमारी साहित्य-राशि का क्षरण कर रहा है, इसकी ओर विश्वविद्यालयों को तत्काल ध्यान देना चाहिए। यदि हम कुछ दशकों तक और सोते रहे तो फिर हाथ मलना ही शेष रह जायगा; जो खो गया वह खो गया; व्यावहारिक जीवन आँख मिचौनी का खेल नहीं है जिसमें खोया हुआ मिलता रहता है और मिला हुआ खोता जाता है।

सामग्री-संचय के सम्बन्ध में एक विवादास्पद प्रश्न सामग्री के महत्व का है। कुछ विद्वान् ऐसा समझते हैं कि जो कुछ मिल गया वही संग्राह्य है; हस्तलेख, पत्र, वस्त्र, अस्थि, स्थान आदि सब कुछ व्यक्ति-सम्बन्ध से महत्वपूर्ण बन जाता है। श्रीनगर की एक मसजिद में हजरत मुहम्मद का एक बाल रखा हुआ है, जिसके दर्शन के लिए ही जन-समुदाय उमड़ता रहता है। इसी प्रकार व्यक्ति-विशेष के हस्तलेख को प्राप्त करने के लिए संग्राही लोग काफी धन व्यय करने को तैयार हैं। भारत के ग्राम-ग्राम में जो हस्तलिखित पुस्तकें, पूर्ण अथवा खण्डित, प्राप्त होती हैं अथवा प्राप्त हो सकती हैं, उनमें से कितनी संग्रहणीय हैं और कितनी विसर्जनीय? प्रश्न वस्तुतः उलझा हुआ है। तुलसी का रामचरितमानस सुसंपादित होकर प्रकाशित हो चुका है, उसके पाठान्तर, क्षेपक आदि भी हमारे पास है। फिर भी तिरुपति नगरी के बाजार में रामचरितमानस के कुछ हस्तलिखित पृष्ठ, जो रद्दी रूप में प्राप्त हुए हैं, उनको सुरक्षित हम क्यों रखना चाहते

हैं ? कदाचित् यह सिद्ध करने के लिए कि आन्ध्र प्रदेश के इस दूरस्थ भाग में भी किसी समय देवनागरी लिपि में लिखित तुलसीकृत रामचरितमानस को पढ़ने में अनुराग था। अथवा इसलिए कि इनके पृष्ठों में कोई अधिक उपयोगी पाठान्तर प्राप्त हो जाय। नायिका-भेद की अनेक पुस्तकों की विद्यमानता में व्रजप्रदेश के पड़ौस ग्राम में दो और पुस्तकें मिल जाने से साहित्य की क्या समृद्धि होगी ? मेरा मत है कि सामग्री-संचय अपने-आप में पूर्ण कार्य है, इसको मूल्यांकन से नहीं जोड़ना चाहिए। परिश्रम करके प्राप्त तो करलें, नष्ट करने के लिए महाकाल के कठोर कर क्या पर्याप्त नहीं हैं जो आप अपनी दुर्बल बाहुओं का भी सहारा दे रहे हैं ?

## सामग्री की सुपाठ्यता

सामग्री-संचय के पश्चात् दूसरी समस्या सामग्री को सुपाठ्य बनाने की है। आज अनुसन्धाता ऐसा विषय चाहता है जिसकी समस्त सामग्री प्रकाशित है और जिस पर कमरे में बैठकर कार्य किया जा सकता है। हस्तलिखित पुस्तकों का अध्ययन तो एक स्वतन्त्र विज्ञान है, इसका साहित्य के शोधार्थी से क्या सम्बन्ध ? फिर भी कुछ अनुसन्धाताओं के लिए हस्तलिखित पुस्तकों का पढ़ना आवश्यक होना चाहिए। सामग्री-संचय के समान संचित सामग्री को सुपाठ्य बनाना भी अनुसन्धान का एक आवश्यक अंग है। सामग्री को सुपाठ्य बनाने के तीन क्रम हैं—वाचनक्षमता, लिपिबोध तथा संपादन।

वाचनक्षमता से मेरा अभिप्राय यह है कि अनुसन्धाता हस्तलिपि के वाचन का अभ्यास करे। प्राचीन हस्तलेख आज से कुछ भिन्न है, कुछ भग्नांशिक हैं। उदाहरणार्थ शिरोरेखा का कोई नियम प्रायः निबाहा नहीं गया, या तो लिपिकार शिरोरेखा का प्रयोग नहीं करता, पहिले से खींची हुई पंक्ति पर लिखता जाता है या मनमानी शिरोरेखा खींच देता है। पाठक को यह पता नहीं लग पाता कि इस पंक्ति का कौन-सा शब्द कहाँ समाप्त हो गया और कौन-सा से प्रारम्भ हुआ। गुरु गोविन्दसिंह के चण्डीचरित के मंगलाचरण में एक पंक्ति है—'भीत रजोतमना कविता'। इसको मैंने पहिले पढ़ा —'भीतर जोतमता कविता' अर्थात् हृदय के भीतर ज्योतिष्मती कविता, परन्तु पीछे विचार करने पर ज्ञात हुआ कि पाठ—'भीत रजो-तमता' होना चाहिए, जिसका अर्थ होगा रजस एवं तमस को पराजित करके उदित होने वाली सात्विक कविता। वाचनक्षमता के अभ्यास में कौन-से पाठाभास आ जाते हैं, इस विषय पर तो एक बड़ा रोचक निबन्ध लिखा जा सकता है। यह अभ्यास प्रयत्नसाध्य है और फिर भी निर्विवाद नहीं होगा।

लिपिबोध की अनुसंधान में अत्यधिक आवश्यकता है। प्राचीन युग से हमारी भारतीय लिपियाँ भिन्न-भिन्न परिवर्तनों को सहती आई हैं, यह विषम परिस्थिति में स्पष्टतर हो विदित होता है। जायसी के पद्मावत में जो पाठ-भेद है उसका मुख्य कारण यह है कि जायसी ने उसे फारसी लिपि में लिखा था।

सबको कटु अनुभव हुए होंगे। हिन्दी के क्षेत्र का विस्तार यहाँ सबसे अधिक परि श्रम की अपेक्षा रखता है। सहस्रों वर्गमील के इस भूभाग में कम से कम ए लाख व्यक्ति तो ऐसे होंगे ही जिनके पास साहित्यिक पुस्तकें बस्तों में बँधी प हैं। पिछले दिनों कश्मीर की प्रसिद्ध साधिका लल्लेश्वरी पर जब शोध कार्य हे रहा था तो मुझे पता लगा कि धूनि छानने से भयभीत होकर अनुसन्धाता लल्ले श्वरी पर कार्य नहीं कर सका है। इसी प्रकार एक दूसरे कश्मीरी साधक परमा नन्द के विषय मे भी निष्कर्ष निकालना पड़ा। *जिन व्यक्तियों के पास ऐसी साम* है उनके दो वर्ग हैं—(१) वे, जो इन पोथियों से कोई विनिमय न पाकर इनक पसेरी के हिसाब से रद्दी में बेचते रहे हैं और (२) वे, जो पोथी के प्रत्येक पृष्ठ को अमूल्य मान कर उसको नोटों के समान गुनाना चाहते हैं। धीरे धीरे मेरा ऐसा विश्वास बनता जा रहा है कि देश के प्रत्येक प्राचीन ग्राम में कोई न कोई घर ऐसा अवश्य होना चाहिए जिसमें एक-दो बस्ते बचे रह गये हों। सरकारी कानून भी बन सकता है कि ऐसी समस्त सामग्री राष्ट्र की सम्पत्ति है। परन्तु मैं समझाकर-बुझाकर कार्य करने के पक्ष में हूँ। हम उन सज्जनों से मिलें और उनको यह समझावें कि उनके साहित्यानुरागी पूर्वजों ने जो हस्त-लिखित पुस्तकों का संचय किया है उसको प्रकाश में लाकर वे पितृऋण से मुक्त हो सकते हैं और उनकी उदारता को प्रकाशित पुस्तक की भूमिका में स्वीकार भी करना चाहिए। *इस प्रकार यदि हम उक्त तीनों प्राप्ति-स्थानों से सम्प्राप्य सामग्री के* संचय में लग जायें तो अनुसन्धान को अभूतपूर्व सफलता मिल सकती है। प्रत्येक क्षण हमारी साहित्य-राशि का क्षरण कर रहा है, इसकी ओर *विश्वविद्यालयों* को तत्काल ध्यान देना चाहिए। यदि हम कुछ दशकों तक और सोते रहे तो फिर हाथ मलना ही शेष रह जायगा; जो खो गया वह खो गया; व्यावहारिक जीवन आँख मिचौनी का खेल नहीं हैं जिसमें खोया हुआ मिलता रहता है और मिला हुआ खोता जाता है।

सामग्री-संचय के सम्बन्ध में एक विवादास्पद प्रश्न सामग्री के महत्व का है। कुछ विद्वान् ऐसा समझते हैं कि जो कुछ मिल गया वही संग्राह्य है; हस्तलेख, पत्र, वस्त्र, अस्थि, स्थान आदि सब कुछ व्यक्ति-सम्बन्ध से महत्वपूर्ण बन जाता है। श्रीनगर की एक मसजिद में हजरत मुहम्मद का एक बाल रखा हुआ है, जिसके दर्शन के लिए ही जन-समुदाय उमड़ता रहता है। इसी प्रकार व्यक्ति-विशेष के हस्तलेख को प्राप्त करने के लिए संग्राही लोग काफी धन व्यय करने को तैयार हैं। *भारत के ग्राम-ग्राम में जो हस्तलिखित पुस्तकें, पूर्ण* प्राप्त होती हैं अथवा प्राप्त हो सकती हैं, उनमें से कितनी *कितनी विसर्जनीय ? प्रश्न वस्तुतः उलझा हुआ है।* सुसंपादित होकर प्रकाशित हो चुका है, पास है। फिर भी तिरुपति नगरी के लिखित पृष्ठ, जो रद्दी में

है ? कदाचित् यह सिद्ध करने के लिए कि आन्ध्र प्रदेश के इस दूरस्थ भाग में भी किसी समय देवनागरी लिपि में लिखित तुलसीकृत रामचरितमानस को पढ़ने में अनुराग था। अथवा इसलिए कि इनके पृष्ठों में कोई अधिक उपयोगी पाठान्तर प्राप्त हो जाय। नायिका-भेद की अनेक पुस्तकों की विद्यमानता में ब्रजप्रदेश के पड़ोस ग्राम में दो और पुस्तकें मिल जाने से साहित्य की क्या समृद्धि होगी ? मेरा मत है कि सामग्री-संचय अपने-आप में पूर्ण कार्य है, इसको मूल्यांकन से नहीं जोड़ना चाहिए। परिश्रम करके प्राप्त तो करलें, नष्ट करने के लिए महाकाल के कठोर कर क्या पर्याप्त नहीं हैं जो आप अपनी दुर्बल बाहुओं का भी सहारा दे रहे हैं ?

## सामग्री की सुपाठ्यता

सामग्री-संचय के पश्चात् दूसरी समस्या सामग्री को सुपाठ्य बनाने की है। आज अनुसन्धाता ऐसा विषय चाहता है जिसकी समस्त सामग्री प्रकाशित है और जिस पर कमरे में बैठकर कार्य किया जा सकता है। हस्तलिखित पुस्तकों का अध्ययन तो एक स्वतन्त्र विज्ञान है, इसका साहित्य के शोधार्थी से क्या सम्बन्ध ? फिर भी कुछ अनुसन्धाताओं के लिए हस्तलिखित पुस्तकों का पढ़ना आवश्यक होना चाहिए। सामग्री-संचय के समान संचित सामग्री को सुपाठ्य बनाना भी अनुसन्धान का एक आवश्यक अंग है। सामग्री को सुपाठ्य बनाने के तीन चरण हैं—वाचनक्षमता, लिपिबोध तथा सम्पादन।

वाचनक्षमता से मेरा अभिप्राय यह है कि अनुसन्धाता हस्तलिपि के वाचन का अभ्यास करे। प्राचीन हस्तलेख आज से कुछ भिन्न है, कुछ अवैज्ञानिक हैं। उदाहरणार्थ शिरोरेखा का कोई नियम प्रायः निबाहा नहीं गया, या तो लिपिकार शिरोरेखा का प्रयोग नहीं करता, पहिले से खींची हुई पंक्ति पर लिखता जाता है या मनमानी शिरोरेखा खींच देता है। पाठक को यह पता नहीं लग पाता कि इस पंक्ति का कौन-सा शब्द कहाँ समाप्त हो गया और कौन-सा से प्रारम्भ हुआ। गुरु गोविन्दसिंह के चण्डीचरित के मंगलाचरण में एक पंक्ति है—'भीत रजोतमता कविता'। इसको मैंने पहिले पढ़ा —'भीतर जोतमता कविता' अर्थात् हृदय के भीतर ज्योतिष्मती कविता, परन्तु पीछे विचार करने पर ज्ञात हुआ कि पाठ—'भीत रजो-तमता' होना चाहिए, जिसका अर्थ होगा रजस एवं तमस को पराजित करके उदित होने वाली सात्विक कविता। वाचनक्षमता के अभ्यास में कौन-से पाठाभास आ जाते हैं, इस विषय पर तो एक बड़ा रोचक निबन्ध लिखा जा सकता है। यह अभ्यास श्रमसाध्य है और फिर भी निर्विवाद नहीं होता।

लिपिबोध की अनुसन्धान में अत्यधिक आवश्यकता है। प्राचीन युग से हमारी भारतीय लिपियाँ भिन्न-भिन्न परिवर्तनों को सहती आई हैं, यह विषम परिस्थिति में देखकर ही विदित होता है। जायसी के पद्मावत में जो पाठ-भेद है उसका मुख्य कारण यह है कि जायसी ने उसे फारसी लिपि में लिखा था।

लिखी पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य व्रजभाषा परन्तु गुरुमुखी लिपि में हैं। दादू की बहुत-सी रचनाएँ फारसी लिपि तथा व्रजभाषा में हैं। सुना है कि तंजौर के सरस्वती महल पुस्तकालय में ऐसी व्रजभाषा की रचनाएँ हैं जिनकी लिपि देव-नागरी नहीं है। विद्यार्थी को बँगला तथा नागरी में साथ-साथ पढ़ना अत्यन्त रोचक है। हिन्दी के अनुसंधाता को कम से कम एक दूसरी लिपि से तो अवश्य ही परिचित होना चाहिए। यदि गुरुमुखी, गुजराती तथा नागरी के अक्षरों को ध्यान में रखा जाए तो पृथ्वीराज रासो का एक अधिक प्रामाणिक संस्करण प्राप्त हो सकता है। लिपियाँ किस प्रकार विकसित होती गईं और युग-विशेष के ग्रन्थ के लिखने में लिपि-विकास का कौन-सा योगदान है, यह प्रामाणिक अनुमान अनु-संधान में अत्यन्त सहायक हो सकता है। हमारी लिपियों में एक भ्रान्ति-जनक स्थिति यह है कि एक ही आकार भिन्न-भिन्न लिपियों का अलग-अलग अक्षर बन जाता है। उदाहरणार्थ बँगला के 'र' तथा गुरुमुखी के 'स' को लिया जा सकता है। बँगला के 'र' को देवनागरी का 'व' पढ़ा जा सकता है, गुरुमुखी के 'स' को नागरी का 'म'। ऐसे उदाहरण अनेक हैं।

सम्पादन की समस्या से तो हम सब लोग परिचित ही हैं। कई विश्व-विद्यालयों में इस बात पर बल दिया जा रहा है कि पाठ-भेद का अध्ययन करके ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध कराये जाएँ जिससे भावी अनुसंधान का आधार तो स्थिर हो सके। पाठ-शोध एक अलग नाम बन पड़ा है। मेरा यह अनुरोध है कि पाठ-शोध पर भी शोधोपाधि प्रदान करनी चाहिए। प्रामाणिक पाठ के बिना न कोश तैयार होगा, न विचार स्पष्ट हो सकेंगे और न युगीन वाता-वरण ही ज्ञात हो सकता है। इस सम्बन्ध में मेरा आग्रह है कि सम्पादनकार्य वही करे जो उस भाषा को व्यावसायिक रूप में नहीं, प्रत्युत अभ्यास रूप से जानता है। व्रजभाषा के कुछ ग्रन्थ व्यवसायियों ने सम्पादित किये हैं, उनसे निराशा ही नहीं, खीझ भी उत्पन्न होती है। और सम्पादन में 'मेक अप' व्यर्थ है, ध्वनि तुरन्त है या अर्द्धवर्णीय यह एक विशेष शास्त्र का कार्य है, आज ध्वनि-विज्ञान साहित्य का अंग नहीं है। 'बिहारी रत्नाकर' तक में ऐसे पाठ मिलते हैं जो हम व्रजवासियों की दृष्टि से शुद्ध नहीं हैं।

## सामग्री की व्याख्या

सामग्री की उपलब्धि तथा सुपाठ्यता के अनन्तर अब हम तीसरी समस्या पर आते हैं जिसे सामग्री की व्याख्या कहा जा सकता है। साहित्य का सम्बन्ध समाज—एक सचेत, सजीव-समाज से है, इसलिए साहित्य का अध्ययन एक विशेष सन्दर्भ के अभाव में अर्थहीन है। संदर्भ-बोध के लिए राजनीति, इतिहास, मनोविज्ञान आदि का ज्ञान आवश्यक है। यदि मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया जाय तो मैं अनुसन्धाता से यह अनुरोध करना चाहता हूं कि वह साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य शास्त्र का भी अच्छा परिचय प्राप्त करे। साहित्य की व्याख्या साहित्य से

भी हो सकती है—भाषा, छन्द, अलंकार, अप्रस्तुत-योजना आदि। परन्तु इस अध्ययन के लिए भी पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक है। साहित्य के अध्ययन से दूसरे शास्त्र का मार्ग स्पष्ट होता है और दूसरे शास्त्र साहित्य के मार्ग को सुगम बनाते हैं। सुना जाता था कि औरंगजेब के शासनकाल में विदेशियों का प्रभाव इतना अधिक हो गया था कि हमारी भाषाओं में विदेशी शब्द भरे जाने लगे और दास-कवि ने तुलसी तथा गंग को सुकवियों का सरदार इसलिए माना कि उनकी भाषा-नीति शिथिल या उदार थी—वे मिली-जुली भाषा के पक्ष में थे। परन्तु बिहारी की शब्दावली का अध्ययन करने पर मुझे ज्ञात हुआ कि उनकी भाषा में एक प्रतिशत से अधिक शब्द विदेशी नहीं हैं और जो विदेशी हैं उनका सम्बन्ध दरबारी जीवन से ही है सामान्य समाज से नहीं। इसी प्रकार यह कहा जाता है कि जायसी का पद्मावत तुलसी को इतना पसन्द आया कि उन्होंने अपने सर्वप्रिय ग्रन्थ की रूपरेखा पद्मावत की आधारशिला पर ही बनाई। परन्तु अध्ययन करने पर पता चलता है कि तुलसी को सूफियों के काव्य सर्वाधिक घातक लग रहे थे, उनकी दृष्टि में 'कहानी-उपखान' कहकर किसी मत की निन्दा करने वाले कवि राष्ट्र के नाशक थे, इसलिए उसी भाषा में, उसी छन्द में, उसी शैली को प्राकृत कथा तुलसी ने लिखी परन्तु उसको 'रघुपति नाम उदारा' से परिपूर्ण कर दिया। इसी प्रकार मुझे आश्चर्य होता है जब सूर के सन्यास-पूर्व जीवन का परिचय किसी भी ग्रन्थ में मुझे नहीं मिलता। साहित्य का जो अध्ययन हमारे पूर्वज कर गये हैं वही हमारी सीमारेखा नहीं है, हमको अनेक अवशिष्ट दृष्टियों से उसका अध्ययन करना चाहिए। जैसे हिन्दी-साहित्य के आधार पर पिछले एक सहस्र वर्ष का सामाजिक इतिहास एक ऐसा कार्य है जिसको कोई भी विश्वविद्यालय ले सकता है और निश्चय ही वह राष्ट्र का बड़ा उपकार करेगा।

व्याख्या के लिए दूसरा उपयोगी गुण समस्त भारतीय साहित्य का सन्दर्भ है। हिन्दी-साहित्य अन्य भारतीय साहित्यों से अलग कुछ नहीं है। समाज कटा-छंटा नहीं होता, उस पर राजनीतिक इकाई की कोई छाप आवश्यक नहीं है। हम विद्यापति का अध्ययन करते हैं, परन्तु चण्डीदास तथा शंकर देव के काव्य से हमारा परिचय नहीं है। तुलसी के विद्वानों को यह ज्ञान नहीं कि कृत्तिवास और कम्बन ने रामकथा को किस रूप में लिया है। सूर पर डाक्टरेट उसे कैसे मिलेगी जो यह न जानता हो कि वल्लभ ने नालियर दिव्यप्रबन्धम् के पदों को पढ़ा या सुना था। अनेक व्यक्ति तुलसी के जानकीमंगल और पार्वतीमंगल को पसन्द करते हैं परन्तु वे क्या बंगाल के प्रसिद्ध मंगल-काव्यों के विषय में जानते भी हैं? मुझे यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि गुजरात के कवियों ने चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो की सराहना की है। अलाओल के पद्मावत के बिना जायसी के पद्मावत का सम्पादन कैसे पूर्ण माना जा सकता है? हिन्दी-साहित्य का अर्थ है भारतीय साहित्य की एक शाखा—एक महत्त्वपूर्ण शाखा—इस निष्कर्ष पर इस विश्व-विद्यालय (श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय) [illegible] है।

व्याख्या के लिए तीसरा परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण सोपान है साहित्य को एक विशिष्ट उचित दृष्टि से देखना। अब तक साहित्य को शिक्षित जनता की चित्त-वृत्ति के रूप में देखा गया है या सामान्य जनता की वाणी के रूप में परखा गया है। मैं इस विद्वन् मण्डली से यह आग्रह करना चाहता हूँ कि साहित्य को राष्ट्रीय संस्कृति की अभिव्यक्ति भी माना जा सकता है; सामयिक प्रभाव साहित्य पर सामयिक मूल्य के लिए ही हैं, स्थायी परख के लिए नहीं। जो हमको ऋग्वेद से लेकर लोकायतन तक मिलता है उसका कितना ऐसा है जो स्थायी है—परम्परा से सुरक्षित है, राष्ट्रीय संस्कारों का अभिन्न अंग है और कितना सामयिक है, क्षणिक है, यह परखना होगा। समुद्र का वास्तविक रूप वह नहीं है जो ज्वार-भाटे में दिखाई पड़ता है, गंगा वह नहीं है जो वर्षातिरेक में नदी-नालों को समेटकर पसर रही है प्रत्युत वह है जो शरद्धवला, शान्ता एवं प्रसन्ना है। भारतीय साहित्य में भारतीयता क्या है। इसकी कसौटी देश-काल के प्रसार में उपलब्ध का सामान्य-बोध है। अस्तु व्याख्या करते हुए हमको अपनी दृष्टि अधिक स्वच्छ एवं निर्मल बनानी होगी। इस दृष्टि का पूर्वाभ्यास अनुसन्धान का मन्त्र मान लें, तो हानि क्या है ?

इस सम्बन्ध में मेरा विचार इस ओर मुड़ रहा है कि आचार्य शंकर ने अष्टम शती में जो पुनरुत्थान का उद्घोष किया उसके फलस्वरूप भारतीय समाज शून्य के स्थान पर आत्मा, निराशा के स्थान पर आशा, दुःख के स्थान पर उल्लास एवं अकर्मण्यता के स्थान पर उद्यम पर जुट गया। दो शताब्दी के चर्वित-चर्वण के अनन्तर भारतीय समाज का मुख्य प्रतिनिधि स्वर यही आत्मविश्वास एवं आशावाद बन गया। जागृति के फलस्वरूप परम्परा में विश्वास, अतीत में श्रद्धा, स्वाभिमान एवं मर्यादा का मन्त्र साहित्य का उदीयमान निनाद बन गया। भारतीय मानस निर्मल, स्वच्छ एवं गतिशील बन गया। अपनी संस्कृति, अपना देश, अपनी भाषा एवं अपनी मान्यताओं को फिर से अपनाया गया। जीर्ण-शीर्ण, फूटे-टूटे, जर्जरित-कवलित भाव-विचार अपने आप ढहने लगे। विश्रान्त कलेवर निशा की गोद में मुख छिपाए अनस्तित्व का प्रतीक बनकर जैसे कोई व्यक्ति ऊषा के अमृतमय स्पर्श से संजीवनी प्राप्त कर आँखें खोल देता है, उसके मन में नया उत्साह एवं उल्लास आ जाता है, वैसी ही दशा दशम शताब्दी के भारतीय समाज की थी। सचमुच ही आचार्य शंकर ने भारतीयों को उनकी आत्माएँ फिर से दिलवादी और पीठ ठोककर कहा कि भविष्य में अपनी असावधानी से इनको मत गँवा देना। हिन्दी के समस्त साहित्य को मैं इसी जागरण-परम्परा में परखना चाहता हूँ। मैं इस बात का आग्रह करना चाहता हूँ कि हिन्दी का प्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराजरासो' एक राष्ट्रीय महाकाव्य है जिसमें भारत के एक प्रतिनिधि नरनायक के, एक विदेशी दुरात्मा के साथ संघर्ष की कहानी है। क्या ठीक यही संघर्ष एक सहस्र वर्षों के उपरान्त गत वर्ष भारत-पाकिस्तान युद्ध में दुहराया नहीं गया था ? हम विगत इतिहास की उन दुर्दान्त घटनाओं की

उपेक्षा नहीं कर सकते जिन्होंने संघर्षशील जनता का प्रतिनिधित्व हिन्दी साहित्य को प्रदान कर दिया। संघर्ष चला और एक सहस्र वर्ष तक चलता ही रहा—क्या यूरोप का शतवर्षीय समर इसकी तुलना में कहीं ठहर सकता है—और सन् १७५७ में प्लासी के युद्ध में, विदेशी व्यापारियों की सहायता लेकर के भी देश को ग्यारहवीं शती के उस पाप को धोने के लिए बाध्य होना पड़ा। राष्ट्रीय कवि बंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' उपन्यास में उस परिस्थिति का प्रभावशाली चित्र अंकित किया है।

लाहौर से प्लासी तक की यह समर्थ-यात्रा राजस्थान (महाराणा प्रताप की संघर्ष-भूमि अर्बली पर्वत), पंजाब (गुरु गोविन्दसिंह का गढ़ आनन्दपुर) तथा महाराष्ट्र (छत्रपति शिवाजी का सन्नद्ध क्षेत्र) में समय-समय पर चमकती रही है। ग्यारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक का यह देशकालातीत आलोक है जिसकी छाप भारत के समस्त साहित्यिक, विशेषतः हिंदी में हमें उभरी हुई दिखलाई पड़ती है। तुलसी जैसे समर्थ, सचेत कवि ने इस सरणि को अपने ढंग से उर्वर बनाया है, और राम की दुःखसुखमयी गाथा सुनाकर जनता को समझा दिया है कि कलिकाल का प्रभाव राम की अनुगति से ही ध्वस्त हो सकता है, जो स्वयं भगवान् थे उनको सबर्वों से मार्ग बनाना पड़ा था, हम भी वैसा ही करें—छोड़ दो उन क्षणिक आकर्षणों को जो अनित्य हैं और श्रद्धा-पूर्वक मन में दृढ़ निश्चय करके उस मार्ग को अपनालो जो मर्यादा पुरुषोत्तम ने अपनाया था, मोक्ष भी इस भक्ति का पर्याय अथवा विकल्प नहीं है। आज स्व-तन्त्रता का जो प्रासाद हम निर्माण कर रहे हैं। इसकी आधार-शिला वीरवर पृथ्वीराज ने रखी थी, देश के कोने-कोने में शताब्दियों की विस्तृत जिह्वा पर राष्ट्रीयता का जो मन्त्र अंकित-पुनरंकित होता रहा है वह हमारी धूमिल दृष्टि में छिप क्यों जाता है? अनुसन्धानाओं को चाहिए कि वे राष्ट्रीयता के नव विकास और हिन्दी-साहित्य के इतिहास को पर्याय रूप में समझने का अभ्यास करें।

इस सम्बन्ध में मैं आपका ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि हिन्दी-साहित्य का आदिकाल निरन्तर उपेक्षा का भाजन रहा है। विदेशी पाश में, अंग्रेजी भाषा की कृपा से, हम इतने ग्रस्त हो चुके हैं कि हमको आदिकाल दुर्भाग्य, असन्तोष एवं अराष्ट्रीयता का पिछड़ा हुआ काल दिखलाई पड़ता है। जब कि सत्य यह है संसार के इतिहास में भारत ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक सबसे अधिक सम्पन्न, सशक्त एवं समर्थ था। शासन, सेना, समाज-व्यवस्था में ही नहीं ज्ञान-विज्ञान में भी हम अग्रणी थे। यदि सहस्र-वर्षी संघर्ष न प्रारम्भ हुआ होता तो आज हमारा देश विकास के किस बिंदु पर होता, यह केवल दिव्य कल्पना मात्र है। आप विश्व का इतिहास पढ़िए और भारत के इतिहास से तुलना कीजिए आप स्वयं स्वीकार कर लेंगे कि सोलहवीं शताब्दी से पूर्व भारतेतर विश्व कितना पिछड़ा हुआ है। गीदड़ों के विपदन्तों ने हमारे समाज को झकझोर अवश्य दिया है, परन्तु वह सदैव निर्जीव था, यह मानना सम्भव नहीं है। आदि

काल के विकासशील साहित्य में जो भव्य एवं उदार आदर्श पाये जाते हैं वे मेरे कथन को पुष्ट कर सकेंगे : शासन, सेना, व्यवसाय आदि से परिपूर्ण समस्त जीवन को पूर्णता से ग्रहण कर लेने वाला साहित्य आदिकाल में है। भक्तिकाल में आशा-निराशा की धूपछाँह है। निम्न वर्ग शनैः शनैः निराश होकर धर्म परिवर्तन करने लगा, कुछ कवियों ने मादिकी कविताएँ फैलाकर भारतीय पौरुष को सुप्त करना चाहा, पिछले गौरव को भुलाकर उसको कहानी मात्र बताने का प्रयत्न किया। परन्तु तुलसी जैसे राष्ट्रोद्धारक भी इसी युग में हुए जिन्होंने रामराज्य का स्वप्न समाज को दिया—वही रामराज्य जो आगे चलकर गांधी जी का मूल मन्त्र बना। मुझे खेद है कि तुलसी के राष्ट्रीय आदर्शों की अभी तक पर्याप्त खोजबीन नहीं हो सकी है। सत्य तो यह है कि आज का अनुसन्धान हिन्दी साहित्य को हिन्दी जीवन के साथ एकरूप करके देखना नहीं सीख पाया। यह समस्या उन विचारकों के समक्ष है जो साहित्य को खिलौना मात्र नहीं समझते—उसको राष्ट्र की सबसे बड़ी शक्ति मानते हैं।

भक्ति काल की स्वाभाविक परिणति दो रूपों में हुई। कृष्ण भक्ति ने जनता को कन्हैया बनाना चाहा जिसका चरम विकास मुहम्मद शाह रंगीले के जीवन में मिलता है, स्त्री राधिका बनी घूमें और युवक 'कान्ह रति सागर' बनें—यही कृष्ण-काव्य का अनिवार्य परिणाम था, लीला तो लीला ही रहेगी, वह किशोरी-रमण पैदा कर सकती है, 'नरनाह' नहीं। यह लम्पट साहित्य हिन्दी पाठकों के मन पर इतना छा गया है कि वे रसिक और रसिया का अन्तर भूल गये हैं, वे उसी साहित्य को समाज का चित्र मानते हैं जिसको लिखकर स्वयं देव कवि पछताये थे। होना यह चाहिए कि उत्तरमध्य युग की उस क्रांति को प्रकाश मिले जिससे स्वतन्त्रता-संघर्ष के नूतन प्रयत्न की चित्रावली सुलभ हो सके। छत्रपति शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह इसी युग के नेता हैं। उन्होंने अपनी मातृ-भाषाओं की उपेक्षा करके भारतव्यापी भाषा को राष्ट्रीय संघर्ष का माध्यम बनाया। गुरु गोविन्द सिंह के सम्पर्क में ५२ हिन्दी कवि थे; उन्होंने स्वयमेव 'चण्डीचरित' लिखा है जो वीररस का अपूर्व खण्डकाव्य है। इस युग में रसिया कवियों ने तो केवल मुक्तक काव्य लिखा है, प्रबन्ध काव्य लिखने का श्रेय केवल वीर रस के कवियों का है। क्या प्रबन्ध-काव्य योजना कवि के मन की किसी निश्चित आस्था की ओर संकेत नहीं करती ? शृंगारी कवि क्यों एक-एक दोहे में डूब जाते हैं और फिर उनके तड़पते हुए निर्जीव कलेवर क्या पाठक के संमुख जीवन की निस्सारता की घोषणा करते हैं ?

डॉ० महेन्द्रप्रताप सिंह के निष्कर्ष उचित ही हैं कि 'हिमालय से लेकर दक्षिण महाराष्ट्र तक ऐसे आन्दोलनों की एकतानता भी बद्ध प्रबल एवं सांस्कृतिक जन-जागरण को प्रमाणित करती है'।[1] नागर संस्कृति के संघर्ष के फलस्वरूप

१. 'जनजागरण आंदोलनों और उनके मंडन के कवि', विषय-प्रवेश, पृ० १६।

इस काल में फिर एक बार ग्रामीण संस्कृति का संगठन हुआ, जिसका मुख्य लक्ष्य राष्ट्रीय एकता एवं सुरक्षा थी। शिव एवं हनुमान जैसे संहारी देवताओं की पूजा प्रारंभ हुई और छोटे-छोटे राज्य एवं उदार राज्याधिकारी मिलकर विदेशियों को देश से बाहर ठेलने को सन्नद्ध हो गये। बस्तों में बंधे हुए अप्रकाशित हिन्दी-काव्य के प्रकाशित होने पर हमारी अनेक सामाजिक व्याख्याएँ बदल जायेंगी और हम प्राचीन हिन्दी-साहित्य को जन-जीवन के प्रतिबिम्ब के रूप में देख सकेंगे। इस संघर्षोत्साह का एक चित्र निम्नलिखित कवित्त में भी देखा जा सकता है:

> सुत पितु मातु की सनेह ग्रन्थि कहियतु है,
> 
> आनि को बहोरि शिवशक्ति को मिलाय दे।
> 
> लाइ दे इकट्ठे तन गट्ठे मरहट्ठे और,
> 
> बुन्देलन के पट्ठे अरि-दल दहलाय दे।
> 
> भनै भगवंत अन्त करूँ भेद अन्तर को,
> 
> चन्द्र चौहान एक ठौर ही बुलाय दे।
> 
> उड़ि जाँय मुगुल न देखें फिर मुड़ि के,
> 
> पवन-सुत तौन तू बवंडर चलाय दे॥[1]

और आधुनिक युग की राष्ट्रीयता क्या इंगलिस्तान से लाकर लगाई हुई कलम है? स्व-साहित्य, स्व-इतिहास एवं स्व-संस्कृति से प्रत्यक्ष परिचय पाये बिना जो अंग्रेजी के भोंपू से स्वर निकलेगा वह तो अंग्रेजी शिक्षा और राष्ट्रीय चेतना को पर्याय मानेगा ही। इसलिए मेरा आप सज्जनों एवं देवियों से आग्रह है कि आप भारतीय साहित्य, विशेषतः भारत की आधुनिक भाषाओं के साहित्य, को एक नवीन दृष्टि से देखें और उसके भीतर अभ्युत्थान की अजस्र भावना के दर्शन करें। इस साहित्य के आधार पर आपको स्वयं विदित हो जाएगा कि तथाकथित मध्ययुग राष्ट्रीय संघर्ष के इतिहास का युग है।

हमारा अतीत उज्ज्वल रहा है, हमारा वर्तमान आशा-संकुल है, हम अनागत को भास्वर बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहेंगे।

(श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति में
आयोजित गोष्ठी का भाषण)

---

१. 'भगवन्तराय खीची और उनके मंडल के

# डॉ० ओम्प्रकाश

जन्म (१६२४ ई०) ग्राम पखील, प्रान्त अलीगढ़।
एम० ए० (१६४६) प्रथम श्रेणी में प्रथम, आगरा विश्वविद्यालय।
अध्यक्ष (१६४६) हिन्दी-विभाग, हंसराज कालेज, दिल्ली।
रीडर (१६६३) हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

## प्रकाशित कृतियाँ

| | | |
|---|---|---|
| १. | हिन्दी-अलंकार-साहित्य | (हिन्दी माध्यम में उपलब्ध अलंकार-विवेचन का इतिहास—शोध-प्रबन्ध) |
| २. | हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य | (अप्रस्तुत सामग्री के आधार पर आधुनिक काल से पूर्व के हिन्दी-काव्य का शोधपूर्ण विवेचन) |
| ३. | आलोचना की ओर | (साहित्यिक आलोचनात्मक निबन्ध) |
| ४. | आलोचना के द्वार पर | (आधुनिक साहित्य से सम्बद्ध आलोचनात्मक निबन्ध) |
| ५. | भावना और समीक्षा | (प्राचीन साहित्य से सम्बद्ध आलोचनात्मक निबन्ध) |
| ६. | प्राचीन-हिन्दी काव्य | (विवेचनात्मक एवं समीक्षात्मक निबन्ध) |
| ७. | बिहारी | (अधिकारी समीक्षकों द्वारा लिखित निबन्धों का सम्पादन) |
| ८. | भिखू साहब | ([illegible] |